कथकलि नृत्यकला

कथकलि नृत्यकला

[हिन्दी अनुवाद]

मूल लेखक

गायनाचार्य अविनाशचन्द्र पाण्डेय

अनुवादक

कुं० जयसिंह एस० राठौर

प्रस्तावना

गोपीनाथ

राजनर्तक (ट्रावनकोर स्टेट)

सम्पादक

लक्ष्मीनारायण गर्ग

प्रकाशक

संगीत कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०)

मई
१६५७

मूल्य
रु० २.५०

अनुक्रमणिका

प्रकाशक के बोल

रागात्मक प्रवृत्तियों की जनक कथकलि नृत्यकला भारतीय नृत्यों की आत्मा है, उसका यथार्थ दिग्दर्शन प्रस्तुत पुस्तक में किया जा सकता है।

हिन्दी भाषा में अभी नृत्यकला पर समुचित सामग्री का नितान्त अभाव है, इसी कारण नृत्य शैलियों की विशेषताओं तथा उनकी अन्तर्भावनाओं से परिचित व्यक्ति कम मिलते हैं। भरत का नाट्यशास्त्र जो संगीत और अभिनय का आधार ग्रन्थ है, भारतीय कलाकार की थाती है; उसकी एक-एक पंक्ति के समक्ष आज का संगीत साहित्य विलास मात्र है। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार के सामंजस्य से कोटिशः रंगों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार महर्षि भरत द्वारा निर्देशित ताण्डव और लास्य से नृत्य के विविध रूप दृश्य होते हैं।

कथकलि एक ऐसी ही ऐतिहासिक, सांकेतिक तथा सम्पन्न नृत्य भाषा है जिसकी अभिव्यक्ति का साधन मूक भंगिमायें हैं।

कथकलि नृत्यकला वर्तमान समय में सांस्कृतिक मित्रता का अलभ्य उपहार सिद्ध होरही है अतः उसके लालित्य की वृद्धि का भी ध्यान रखना है। पाठ्यक्रम में भी अभी तक इस शैली की उपेक्षा रही है क्योंकि तद्विषयक साहित्य न्यून मात्रा में उपलब्ध था, और जो उपलब्ध था वह अस्त व्यस्त, अप्रामाणिक दशा में प्राप्त होता था।

प्रस्तुत पुस्तक जो पिछले ११ वर्ष से केवल अंग्रेजी भाषी व्यक्तियों को ही उपादेय थी, अब ऐसी समस्या का हिन्दी में प्रामाणिक व शोधपूर्ण समाधान है। अतः विश्वास है कि नृत्य क्षेत्र के उदीयमान जिज्ञासु तथा शिक्षक इससे यथोचित लाभवृद्धि कर लेखक, अनुवादक तथा प्रकाशक के श्रम को सार्थक बनायेंगे। अहिंसा के पुजारी भारत में सत्यं शिवं सुन्दरं की प्रतिष्ठा के लिये कथकलि नृत्यकला का प्रचार अभीष्ट है।

प्रस्तावना

केरल की प्राचीन लोक नृत्य-नाट्य कला कथकलि का समालोचनात्मक अध्ययन कर गायनाचार्य अविनाश चन्द्र पाण्डेय ने इस महत्वपूर्ण एवं अपूर्व पुस्तक की रचना की है। मुझे खुशी के साथ गर्व भी है कि इस पुस्तक के बारे में मुझे दो शब्द कहने का अवसर दिया गया है।

मेरे विचार से भारतीय संगीत और नृत्य के इस प्रकाण्ड पण्डित के अतिरिक्त और किसी भी लेखक ने, प्रस्तुत विषय पर किसी भी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक अभी तक नहीं लिखी है जो कि इतनी विस्तृत और क्रमबद्ध हो। लेखक ने कथकलि कला की बारीकियों को भी ऐसी रोचक और सरल भाषा में प्रस्तुत किया है कि यह पुस्तक कथकलि-साहित्य में प्रथम कही जायेगी। इसमें जो जानकारी दी गई है, वह आज ही नहीं, सदैव इस कला के शिक्षार्थियों, उपासकों और कलाकारों का पथ प्रदर्शन करती रहेगी।

पुस्तक द्वारा कथकलि के प्रचलन, इसके नृत्य में निहित कला–रस साज–सज्जा व अङ्ग-संचालन और मुद्राओं के बारे में बतलाया गया है। मुद्राओं के उद्‌भव तथा परिवर्तन व विलय के बारे में भी विस्तार पूर्वक बताया गया है; और साज–सज्जा पर लिखे गये रोचक अध्याय से यह स्पष्टत: पता चलता है कि यह कला २०० वर्ष से कुछ ही अधिक वर्षों के विकास काल में किस प्रकार सर्वाङ्ग–सुन्दर हो गई है।

लेखक ने इस कला के उन अङ्गों पर भी प्रकाश डालने का सराह-नीय प्रयास किया है, जिन पर कि अधिक जानकारी अभी तक उपलब्ध नहीं थी। विद्यार्थियों की सुविधा के लिये लेखक ने मुद्राओं के अध्याय में विभिन्न हस्त-मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्ति भावों पर भी प्रकाश डाला है, ताकि मुद्रा याद करते समय इस बात का भी ध्यान रहे कि किसी मुद्रा विशेष से कौनसा भाव बताया जाता है।

कथकलि एक प्रकार का व्याख्यात्मक संगीत-नाट्य है। इसके प्रदर्शन का मूकाभिनय वास्तव में इतना यथार्थवादी होता है कि उसमें हमारे देवताओं व जन-साधारण की जीवन-झांकियां देखने को मिलती हैं।

कथकलि की व्युत्पत्ति पर विस्तार पूर्वक लिखते हुए रचयिता ने उन सभी मानव विशेषताओं पर भी टिप्पणी दी हैं, जो कि नृत्य के विकास को प्रभावित कर सकती हैं। गायनाचार्य जी का विश्वास है कि कथकलि पर प्रादेशिक प्रथाओं, परम्पराओं आदि का तो प्रभाव पड़ा ही है, इसमें मूलतः कविता का भी समावेश रहा है। कथकलि नर्तक को भाव अभिव्यक्ति तथा किसी वस्तु विशेष के प्रदर्शन के लिये काफी मनोहारी भंगिमाओं का सहारा मिल जाता है। लेखक ने साज-सज्जा में विभिन्न रंगों के प्रयोग तथा महत्व को भी सफलता पूर्वक दर्शाया है। पुस्तक का वह अन्श जिसमें, 'कथकलि नृत्य अभ्यास' व 'कथकलि की तालें, इन दो बातों पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला गया है, सबसे महत्वपूर्ण है। पुस्तक की उपादेयता इस जानकारी से और भी बढ़ गई है।

लेखक ने कथकलि कला के प्रत्येक अङ्ग पर इस प्रकार लिखा है कि प्रस्तुत पुस्तक प्रत्येक कला–प्रेमी के लिये बहुत लाभप्रद सिद्ध होगी। मेरे विचार में यह अपने किस्म का पहला अधिकारपूर्ण ग्रंथ है।

दी ट्रावनकोर स्कूल, आफ केरल नृत्य   गोपीनाथ

त्रिवेंद्रम्   (राज–नर्तक)

फरवरी, १९४३ ई०

———

दो शब्द

मनुष्य के लिये यह पहचानना सदा से कठिन रहा है कि जीवन वस्तुतः कला का ही एक स्वरूप है। मनुष्य स्वयं सभी वस्तुओं का केन्द्र प्रतीत होता है। मनुष्य अपने सौन्दर्यरस प्रधान भावों की अभिव्यक्ति में प्रकृति के सौन्दर्य और अनन्त को उतारना चाहता है। इसी प्रकार वह अपने अन्तर की चेतना को जीवन में प्रतिविम्बित करने का प्रयास करता है।

प्रेमी के लिये जिस प्रकार प्रेम ही यथार्थ है, दार्शनिक की अनुभूति जिस प्रकार 'सत्य' को ही यथार्थ मानती है, उसी प्रकार कलाकार के दृष्टिकोण से केवल सौन्दर्य ही यथार्थ है, यही अनन्त के तीन स्वरूप हैं। जिस प्रकार उपासकों को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में अटल श्रद्धा होती है, वे ईश्वर को पूरी तरह मानते हैं, उसी प्रकार भारतीय दार्शनिक असीम सौन्दर्य के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। सौन्दर्य, प्रेम और सत्य की ये अनुभूतियां मनुष्य–हृदय को प्रेरणा देती हैं, जिससे वह विविध भंगिमाएँ बनाता है, जो अभिनय प्रधान होते हुए भी भाव–अभिव्यक्ति की दृष्टि से काफी स्पष्ट होती हैं। यही नृत्य है, अनन्त नृत्य, जीवन का नृत्य, जिससे ईश्वर को रिझा कर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करना चाहता है।

'उन्मई विलाक्कम' नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है कि "हमारे पापों के प्रक्षालन हेतु विवेक आत्मा में नृत्य करता है। परमपिता विवेक-दान द्वारा ही हमारी आंखों से माया का परदा हटाकर

अन्धकार दूर करता है, कर्मों का सूत्र समाप्त करता है एवं मल, अविद्या तथा दोषों का अन्त कर आत्मा को अखण्ड सुख प्रदान करता है। यह दैवी नृत्य देखने वालों को पुनर्जन्म की यातनाएँ नहीं सहनी पड़तीं।"

शिवजी का नृत्य मनुष्य के तालबद्ध जीवन का ही एक स्वरूप कहा जा सकता है—ऐसा जीवन, जोकि जगत की समस्त चेतना का प्रतीक है।

कथकलि द्वारा जीवन में सौन्दर्य शास्त्र के प्रादुर्भाव का अनुपम चित्रण किया जा सकता है। यह एक ऐसी कला है जिसमें मुद्राओं, भंगिमाओं व अभिनय द्वारा अनुभूतियों एवं भावनाओं का दृश्य–प्रस्तुत किया जाता है। इसी विशेषता के कारण यह कला भरतनाट्यम् के अतिरिक्त सभी नृत्य–पद्धतियों से अच्छी मानी गई है। वैसे भरत नाट्यम् का कथकलि से सीधा सम्बन्ध है।

पिछले कुछ समय से देश में नाट्य कला को पुनर्जीवन कुछ ऐसे पेशेवर नर्तकों द्वारा प्राप्त हुआ है जोकि वस्तुतः अपनी आजीविका कमाने को चिंतित थे। रागिनी, ला मेरी, अन्ना पावलोवा आदि विदेशी नृत्य–कलाकारों की भारतयात्रा—से यहां के शिक्षित युवक–युवतियों को प्रेरणा मिली। उनमें इस कला को ग्रहण करने की सामर्थ्य तो पहले ही विद्यमान थी; अब उन्होंने देश की सुप्त संस्कृति के इस पहलू के विकास पर ध्यान देना शुरू किया। भारत की प्राचीन नृत्य पद्धतियों को उदयशंकर, रामगोपाल, नटराजवशी, रुक्मिणी व साधना बोस आदि दक्ष कलाकारों ने जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। कथकलि के लिये

दो कलाकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, ट्रावनकोर के दरबारी-नर्तक गोपीनाथ और महाकवि वल्लथोल। उदयशंकर जी ने भी अपने नृत्यों में सजीवता लाने का सराहनीय प्रयत्न किया है। उनकी सफलता का श्रेय निःसन्देह उनकी प्रतिभा को ही है।

प्रस्तुत पुस्तक में कथकली नृत्य-अभिनय की बारीकियों का बोध-गम्य विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है और अपनी किस्म का यह पहला ही प्रयास है, क्योंकि अबतक किसी लेखक ने इस कला के सब अङ्गों का अध्ययन कर कुछ लिखने का प्रयत्न नहीं किया। कथकलि सम्बन्धी समस्त उपलब्ध सामग्री भी इस कला की बारीकियों को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाती, अतः इसके लिये किसी कलाकार द्वारा प्रस्तुत नृत्य का ही सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ता है।

मैंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर कथकलि नृत्य की परम्पराओं व इसके क्रमिक विकास पर अपने विचार विस्तार पूर्वक व्यक्त किये हैं। यथास्थान वस्त्रों, मुद्राओं तथा सज्जा का भी समुचित उल्लेख किया गया है। कथकलि के नर्तक का बनाव-शृङ्गार विशेष आकर्षण का केन्द्र होता है, अतः मैंने शृङ्गार पर भी काफी लिखा है, साथ ही भाव अभिव्यक्ति पर भी प्रकाश डाला गया है। कथकलि-मंच, संगत के वाद्य आदि पर आवश्यक अतिरिक्त जानकारी विभिन्न परिशिष्टियों में संग्रहीत है।

पुस्तक के लिये अधिकांश सामग्री ट्रावनकोर के राजकीय पुस्तकालय में संग्रहीत भोजपत्रों पर लिखे हस्त-ग्रंथों तथा ट्रावनकोर के पुरातत्व-

विभाग द्वारा प्रकाशित पत्रों से संकलित की गई है। कुछ अन्य सम-कालीन ग्रंथों से भी सहायता ली गई है। कथकली कला के अपने ज्ञान से मैंने केवल संकलित सामग्री को उपयोगी बनाने का का कार्य किया है।

मैं उन महानुभावों का कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे इस पुस्तक की रचना में सहायता दी है। ट्रावनकोर के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष श्री आर. पी. पोडूवल का मैं विशेष रूप से आभार मानता हूं, जिन्होंने विभागीय पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशनों के उपयोग की अनुमति देकर मेरे कार्य को काफी हलका कर दिया। मेरे निजी सहायक श्री अब्दुल रहमान ग़जनवी ने भी पुस्तक के लिये सामग्री जुटाने में कम परिश्रम नहीं किया। पुस्तक की पांडुलिपि पढ़ने के लिये मैं अपने शिक्षक, लखनऊ के डा० डी. पन्त पी. ऐच. डी. का भी आभारी हूं। पुस्तक में यत्र--तत्र दिये गये चित्रों का श्रेय मेरे छोटे भाई श्री संतोषचंद्र पाण्डे और सतीशचन्द्र पाण्डे को है। 'कथकलि नृत्य--अभ्यास' नामक अध्याय में श्री उदयशंकर ने 'जीवन का क्रम' नामक अपने स्कैच का समावेश कर लेने की अनुमति दे मुझे अनुग्रहीत किया है। मैं धर्मपुर रियासत के राजकुमार श्री प्रभातदेव जी राणा, श्री राजेन्द्रशंकर व श्री ए. एस. भटनागर का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता दी।

ट्रावनकोर के दरबारी नर्तक श्री गोपीनाथ ने पुस्तक की भूमिका लिखकर मुझ पर विशेष कृपा की है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि स्वयं कथकलि के सर्वोत्तम कलाकार होने के नाते वे सदा कला के लिये इसी प्रकार कुछ न कुछ करते रहेंगे।

अन्त में मैं धर्मपुर रियासत के परम प्रतापी नरेश श्री विजयदेव जी राणा का भी आभार प्रदर्शित करता हूं जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस पुस्तक का परिचय लिखने का कष्ट किया। वे स्वयं इस कला के विद्वान एवं पारखी हैं, अतः उनका नाम भी आविस्मरणीय है।

मैट्रो संगीत कालेज
मथुरा.
मार्च १९४३

ए० सी० पांडेय

प्रथम अध्याय

परिचय

[महाराजा श्री विजयदेव जी राणा, धर्मपुर]

प्रत्येक प्राणी में कुछ इस प्रकार से अङ्ग–संचालन की क्षमता विद्यमान होती है, जिसे नृत्य प्रेमी 'भाव भंगिमा' एवं मुद्रा कहते हैं। जीवन स्वयं ही एक कलाकृति माना गया है।

नर्तक देश के विशिष्ट व्यक्तियों तथा अवतारों के जीवन की झांकी प्रस्तुत करना चाहता है। हम कह सकते हैं कि नृत्य में भी भक्ति तथा मोक्ष–प्राप्ति की परोक्ष कामना निहित है।

धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि चराचर जगत की सृष्टि ब्रह्मा के नृत्य से हुई है। इसी प्रकार ईश्वर कृत प्रत्येक क्रिया को एक नृत्य तथा मनुष्य को ब्रह्माण्ड की सबसे छोटी नर्तन–इकाई माना गया है। मनुष्य जो भी क्रिया करता है, वह 'दैनिक नृत्य' के अन्तर्गत ऐसा काम है जो आत्मा की प्रत्यक्ष आज्ञा से किया जाता है। मनुष्य की चेतना में छिपी यह दैवी शक्ति ही उसे क्रियाशील बना 'नृत्य' करने की प्रेरणा देती है।

'नृत्य' पांच ईश्वरीय क्रियाओं—सृष्टि (आविर्भाव), स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह से बना है। ये क्रियाएं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश तथा सदाशिव का स्वरूप मानी जाती हैं।

श्री आनन्द के० कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'शिव का नृत्य' में पृष्ठ ६६ पर लिखा है कि "ब्रह्मा की शक्ति से प्रभावित प्रकृति चेतना-विहीन होती है; नृत्य का प्रादुर्भाव शिव की ही इच्छा से हो सकता है। जब शिवजी नृत्य करते हैं तो समस्त ब्रह्माण्ड में चेतना की लहर दौड़ जाती है और समस्त तत्व उनके चारों ओर नृत्य करने लगते हैं"।

देवाधिदेव महादेव जी का जो स्वरूप हम देखते हैं, वह एक ऐसी नृत्य मुद्रा में है जो कि अनन्त यथार्थता एवं सत्य का प्रतीक ही नहीं, एक ऐसी आकृति है जिसमें सब देशों तथा काल के भक्त, दार्शनिक, विचारक, प्रेमी, योगी, कलाकार आदि अपने-अपने आदर्श के दर्शन कर सकते हैं। शिव की चारों मुद्राओं से क्रमशः ब्रह्माण्ड की सृष्टि, रक्षा, मुक्ति व संहार का आभास होता है। डमरू से सृष्टि, अग्निनेत्र से संहार, फैले हुए हाथ से रक्षा का अभय दान तथा उठे हुए पैर से मोक्ष प्राप्ति मानी गयी है।

समस्त कलाओं में नृत्य ही एक ऐसी कला है जो मनुष्य शरीर में ही सर्व प्रथम उदित होती है। संगीत, कविता इत्यादि जहां मानवी-भाव-अभिव्यक्ति का एक साधन हैं, वहाँ चित्रकारी, मूर्तिकला तथा अन्य अंकन-कलाएं अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वयंसिद्ध नहीं कही जा सकतीं। निर्माण कला तथा नृत्य कला का जन्म मानव से भी पहले हुआ था, और इन दोनों कलाओं में भी नृत्य पहले प्रारम्भ हुआ।

कहा नहीं जा सकता, शायद मूलतः नृत्य और निर्माण-कला एक ही प्रेरणा की दो अभिव्यक्तियां रही हों। 'जूलौजिस्ट' पत्रिका के दिसम्बर १९०१ के अंक में प्रसिद्ध जन्तुविज्ञान शास्त्री श्री ऐडमन्ड सिलाउस ने लिखा है कि "पक्षियों द्वारा नीड़ बनाना निःसन्देह निर्माण कला का प्रथम चरण था; सम्भवतः नीड़ बनाने की आवश्यकता भी पक्षियों को अपने प्रेम-नृत्य के आनन्दातिरेक पर अनुभव हुई।"

सभी प्रकार के नृत्यों के विकास की अपनी-अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि जो नृत्य एक प्रान्त या स्थान विशेष पर प्रचलित हुआ, उसकी प्रसिद्धि एवं विकास में वहां के निवासियों के रीति-रिवाज, भाषा, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, प्रादेशिक रहन-सहन तथा शारीरिक विशेषताओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गङ्गा, सिन्ध तथा ब्रह्मपुत्र नदी के मैदानों तथा बर्मा आदि के लोकप्रिय नृत्य इस तथ्य की सम्पुष्टि करते हैं। गंगा तथा सिंध नदियों के मैदानों और राजपूताना में नाचे जाने वाले कत्थक नृत्य के प्रस्तुतीकरण में काफी भिन्नता है; बंगाल के मणिपुरी नृत्य तथा आसाम के मणिपुरी नृत्य भी समान नहीं; इसी प्रकार कत्थक और कथकलि तथा गुजरात का लोक-नृत्य 'गरबा' एवं कथकलि भी अनेक बातों में भिन्न हैं।

गायन, वादन और नृत्य यह तीनों हमारे संगीत के मुख्य अङ्ग माने गये हैं। नृत्य के भी तीन प्रकार बताये जाते हैं:—**नाट्य**—जिसमें नाटकीय अभिनय होता है, **नृत्त**—जो बिना ताल, शरीर के क्रमबद्ध अङ्ग संचालन से होता है, और **नृत्य** जिसमें ताल के साथ अङ्ग संचालन होता है, जिससे किसी मनोहारी तथ्य या कथा का आभास मिलता है।

आनन्द से कूदते बच्चों के पांव हों, चाहे दार्शनिक के जगत संबन्धी विचारों का उतार-चढ़ाव; दोनों में लय का वही विश्वव्यापी क्रम काम करता है। यदि हम नृत्य-कला के महान उद्देश्य को पहले नहीं समझेंगे तो हम जीवन को भी ठीक से नहीं समझ सकेंगे, क्योंकि निरुद्देश्य जीवन निरर्थक होता है।

नृत्य का महान उद्देश्य, उसका सच्चा महत्व वही है जहां उसमें ऐसी लय का आभास हो, जो जीवन का ही प्रतीक न हो, अपितु जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त क्रम का आभास लिये हो। हैवलॉक ऐलिस ने अपनी पुस्तक 'डान्स ऑफ लाइफ' में लिखा है कि "जीवन के भौतिक आध्यात्मिक सभी स्वरूपों का सार लय है।"

नृत्य एक ऐसी कला है जिसे लोग अनादि काल से धर्म और प्रेम के लिये काम में लाते चले आ रहे हैं। नृत्य में धर्म की झलक तो खैर मानव-इतिहास की ही स्मृति है, किन्तु प्रेम के लिये नृत्य मानव जीवन से भी पहले से चला आ रहा है। मानव द्वारा नृत्य आरम्भ करने का प्राचीन इतिहास साक्षी है कि यह कला सदा ही युद्ध, क्षमा, विद्या, मनोरंजन आदि की लोक-परम्पराओं से सम्बद्ध रही है। विश्व के कुछ महानतम दार्शनिकों तथा विकसित सभ्यताओं ने (जैसा कि 'इविड' नामक प्राचीन ग्रन्थ में उल्लिखित है) मनुष्य के चरित्र और आध्यात्मिक जीवन से नृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया है।

हिन्दू विश्वास के अनुसार नाचना ब्रह्माण्ड की व्यवस्था में भाग लेना है। नृत्य की प्रत्येक पवित्र क्रिया 'दिव्य क्रिया' समझी जाती है।

ल्यूजियन नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने अपने नृत्य–सम्बन्धी लेख में लिखा है "जगत के समस्त महान रहस्य नृत्य से आरम्भ हुए हैं और नृत्य में ही प्रतिविम्बित होते हैं।"

नृत्य करने का आत्म–आनन्द कुछ देर के लिये श्राद्धालु भक्तों को आत्म विस्मृत कर उनकी चेतना का अनन्त से ऐसा सम्पर्क स्थापित कर देता है, जिसके लिये कि भक्तगण सदा लालायित रहते हैं। शिव के सम्मान में हिन्दू जो विशेष नृत्य प्रस्तुत करते हैं, वह दिव्य क्रिया का ऐसा जीता जागता उदाहरण है कि उसका समकक्ष किसी अन्य धर्म में मिल पाना असम्भव है। अभिनय प्रधान नृत्य, जिनमें प्राकृतिक अभि–व्यक्ति व भंगिमाओं को विकसित कर प्रस्तुत किया जाता है, एक प्रकार से मनुष्य को ऊँचा उठाकर दैवी लोक में पहुँचा देते हैं। हैवलॉक ऐलिस ने अपनी पुस्तक 'डांस ऑफ लाइफ' में लिखा है कि "नृत्य वास्तव में एक अलौकिक अभिनय ही है, पवित्र इतिहास की एक ऐसी पुनरावृत्ति जिसमें कि नर्तक स्वयं एक भूमिका अदा कर सकता है।"

कथकलि एक ऐसी कला है, जिसमें मुद्राओं तथा भाव–भंगिमाओं से विभिन्न भाव तथा अनुभूतियाँ दर्शाई जाती हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कोई वाणी–विहीन मनुष्य इशारों में बात करे। इन मुद्राओं में विभिन्न 'रसों' व 'भावों' की अभिव्यक्ति होती है।

भरत नाट्य शास्त्र में चार प्रकार के अभिनयों का उल्लेख मिलता है सात्विक, आंगिक, वाचिक व आहार्य, इनमें से सात्विक अभिनय को लेखक ने अधिक महत्व दिया है।

देश में प्रचलित सभी नृत्य पद्धतियों में कथकलि में ही मुद्राओं का सर्वाधिक प्रयोग होता है। इसमें २४ मुख्य–मुद्राओं की वर्णमाला होती है, जिसके अन्तर्गत लगभग ५०० अन्य मुद्राओं द्वारा विभिन्न शब्दों का बोध होता है। श्रीमती स्टैन हार्डिङ्ग ने 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' के २० अगस्त, १६३६ के अंक में प्रकाशित अपने लेख में लिखा है कि "मुद्राएँ मूलतः अभिनयात्मक हो सकती हैं, 'पदों' के बीच–बीच में प्रयुक्त विशेष भाव-भंगिमाओं में कई मुद्राओं का समन्वय होता है। हाथों की मुद्राओं का कोई अपना पृथक अर्थ नहीं होता। नृत्य में आने वाले 'काल-सम' पाश्चात्य नृत्यों से अधिक मिलते-जुलते हैं।

कथकलि को दो नृत्यों में विभाजित किया जा सकता है:—"समूह-नृत्य" तथा "प्रदर्शन प्रधान, चमत्कार सम्बन्धी नृत्य"। "समूह नृत्य" नर्तकों की एक टोली द्वारा अपनी शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तुष्टि या अच्छी फसल होने की खुशी में या वर्षा का आवाहन करने के लिए नाचा जाता है। "चमत्कार प्रधान नृत्य" जानकार दर्शकों के मनो-रंजनार्थ ही प्रस्तुत किया जाता है, हालांकि इस नृत्य के मूल में ईश्वर-भक्ति ही होती है। इसमें कई शारीरिक मुद्राओं के अतिरिक्त हाथों का भी विशेष संचालन होता है। नर्तक के शरीर की स्फूर्ति और लोच इन क्रियाओं को निखार देते हैं। हाथों की मुद्रायें चेहरे के भावों की सहायक होती हैं। आंखों, होठों, भवों, कपोलों आदि के संचालन से भाव-भंगिमाओं को यथासाध्य सजीव बनाया जाता है।

प्रकृति ने मलाबार क्षेत्र में वे सभी विशेषताएँ रखी हैं जिनसे 'नर्तन कला' पनप सकती है। नृत्य की शिक्षा के लिये यहाँ बालकों

को प्रारम्भ से ही तैयार किया जाता है। ११ वर्ष की अवस्था में उन्हें कलारी (एक प्रकार का अखाड़ा) में भेजा जाता है, जहाँ विशेष प्रकार की मालिश और व्यायाम से उनके अङ्ग–प्रत्यंग में चुस्ती और लोच का प्रादुर्भाव होता है। कलारी में सिखाये जाने वाले व्यायाम आदि में पारंगत होने के बाद, जब कि उनका शरीर विकसित होने लगता है, तभी उन्हें नृत्य तथा अभिनय का प्रशिक्षण दिया जाता है। नृत्य–नाटक में दक्षता प्राप्त करने में अनुमानतः छः वर्ष का समय लग जाता है। शिक्षा मलाबार के नम्बूद्रि पण्डितों द्वारा दी जाती है, जो कि इस कला के आचार्य हैं।

कथकलि के जन्म तथा विकास का बहुत कुछ श्रेय ट्रावनकोर के राजपरिवार को है। कोट्टरक्कारा के महाराज (१७ वीं शताब्दी) इस कला के सर्व प्रथम विद्वान माने जाते हैं। उनके शासन काल में कथकलि अखण्ड नृत्य–अभिनय चौबीसों घण्टे चलते रहते थे। आज भी ट्रावनकोर में किसी उत्सव–विशेष पर प्रस्तुत किया गया कथकलि-नृत्य देखकर आह्लाद के साथ आश्चर्य भी होता है। ट्रावनकोर नरेश (वर्तमान) ने इस सांस्कृतिक परम्परा को न केवल संजोये ही रखा है, अपितु स्वयं एक कलाप्रेमी होने के नाते उन्होंने इसके विकास के लिये भी कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा।

कथकलि का नृत्य और अभिनय भारतीय नृत्य–शास्त्र को अमूल्य देन है। जबतक यह कला जीवित रहेगी, इसकी उच्च टैकनिक को कोई चुनौती नहीं दे सकता। यद्यपि कथकलि सम्बन्धी प्राचीनतम ग्रन्थ 'हस्त–लक्षण–दीपिका' माना गया है तथापि इस कला को भरत के

'नाट्य–शास्त्र' से भी काफी सम्पुष्टि मिली है। दोनों हा ग्रन्थों में अधिकांश मुद्रायें एकसी ही हैं, किन्तु उनके वर्णन में कुछ अन्तर है। 'नाट्–शास्त्र' की तुलना में 'हस्त–लक्षण–दीपिका' को गौण माना गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में गायनाचार्य अविनाश सी० पांडे ने जैसी सरस, सरल और सजीव भाषा में कथकलि कला की जानकारी दी है, उससे यह स्पष्टतः झलकता है कि इस प्रसिद्ध भारतीय ने कथकलि कला एवं साहित्य का गम्भीर अध्ययन–मनन कर ठोस ज्ञान अर्जित किया है। कथकलि विद्वानों की कई वर्षों की मित्रता से लेखक को यह रोचक पुस्तक लिखने में काफी सहायता मिली है। पुस्तक में कला का प्रत्येक अङ्ग विस्तार-पूर्वक समझाया गया है।

द्वितीय अध्याय

कथकलि की व्युत्पत्ति

मानव इतिहास के अति प्राचीन काल में जब मनुष्य कोई भाषा विशेष नहीं बोलता था, हाव–भाव ही विचार–अभिव्यक्ति का मुख्य साधन थे। इसके बाद मनुष्य के विकास के साथ ही हावभाव का भी विकास हुआ, और आज भी जब कि मनुष्यों द्वारा बोली जाने वाली विभिन्न भाषाएँ अभिव्यक्ति की चरमसीमा तक पहुंच चुकी हैं, "हावभाव" कला भी अत्यन्त विकसित हो चुकी है और मनुष्यमात्र के साथ उसका गहरा सम्बन्ध स्थापित होगया है। अन्य लोक नृत्यों की ही भांति कथकलि नृत्य भी केरल निवासियों की चारित्रिक विशेषताएँ प्रतिबिम्बित करता है, क्योंकि इसमें लोगों के हृदय की सभी भावनाएँ बड़ी खूबी के साथ उतर आती हैं। ट्रावनकोर के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष श्री आर० वी० पोडुवल ने 'दी आर्ट आफ कथकलि' नामक पुस्तिका के प्रथम पृष्ठ पर ही लिखा है कि "कथकलि भक्ति–प्रधान कला है, और यह इस क्षेत्र के लोगों के लिये मनोरंजन का लोकप्रिय साधन ही नहीं, एक ऐसी प्रेरणा भी रही है जिससे लोगों की ईश्वर में आस्था बनी है।"

यों तो कथकलि कला की व्युत्पत्ति वैदिक युग के तांत्रिक काल में ही मानी गई है, किन्तु इस कला ने एक निश्चित रूप सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ग्रहण किया। इससे पहले केरल के आदिवासी लोगों

को नृत्य की प्रेरणा प्रकृति से ही मिली। उस समय के लोग ऋतुओं के अनुसार तथा प्रकृति के सौन्दर्य में सजे रंगों से मिलता-जुलता परिधान धारण करते और जब उनका स्वास्थ्य ठीक होता, मन में तृप्ति और सन्तोष हिलोरें लेता तो वे अपने स्व-निर्मित वाद्यों को लेकर हर्षातिरेक से नाच उठते। यहीं से प्रारम्भ होकर कथकलि धीरे-धीरे एक ऐसी आदर्श नृत्य-अभिनय कला बन गई, जिसमें नृत्य, मनोहारी सङ्गीत व भाव-अभिव्यक्ति सभी अङ्ग संतुलित है।

कथकलि शास्त्र पर कुछ लिखने वाले सर्व प्रथम साहित्यिक कोट्टरक्कारा के महाराज [१५७५-१६५० ई०] हुए हैं। कोट्टरक्कारा नरेश स्वयं कथकलि के कुशल अभिनेता थे और एक बार उन्होंने कालीकट के शासक को भी आश्चर्य में डाल दिया था। घटना इस प्रकार बताई जाती है कि एक बार कोट्टरक्कारा नरेश सद्भावना यात्रा पर कालीकट गये तो वहां के शासक ने उनके सम्मान में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया, जिसमें कथकलि पद्धति की एक नृत्य-नाटिका भी प्रस्तुत की गई। नाटक अभिनीत किये जाने के समय कालीकट के शासक को एक अभिनेता की भूमिका विशेष पसन्द आई। किन्तु जब उन्होंने इस कलाकार को पुरस्कार देने के लिये अपने पास बुलाया तो यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि कलाकार और कोई नहीं, स्वयं कोट्टरक्कारा नरेश ही हैं। ५० वर्षीय महाराज नाटिका के अन्य कलाकारों को बिना कुछ बताये ही अभिनय में भाग ले रहे थे। सबको यही कहा गया था कि वे एक नवोदित कलाकार हैं और राजकीय मन्डली में प्रवेश पाने की इच्छा से आये हैं। कलाप्रेमी कालीकट नरेश इस घटना से बहुत प्रभावित हुए।

कोट्टरक्कारा के विद्वान नरेश ही इस कला के प्रथम सृष्टा हुए हैं। उनके शासन काल में इस लोक कला का जीर्णोद्धार तो हुआ ही, साथ ही वांछित परिवर्तनों द्वारा इसका विकास भी किया गया। महाराज ने कथकलि के चार प्रसिद्ध रूपकों की भी रचना की। उस समय की अधिकांश कथाएँ हिन्दुओं के अवतारों पर ही आधारित होती थीं, अतः कोट्टरक्कारा नरेश ने की 'रामनाट्यम' नामक प्राचीन कथा-नृत्य के अनुरूप कथकलि को एक नया स्वरूप दिया। ['माडर्न रिव्यू' के मार्च १९३५ अंक में श्री राजेन्द्रशंकर ने कथकलि कला सम्बन्धी अपने लेख में इस बात पर प्रकाश डाला है कि रामनाट्यम वस्तुतः रामायण की रामकथा के समान ही है। इसमें दशरथ के 'पुत्र कामेष्ठि' अनुष्ठान से लेकर लंका विजय तक का वृतान्त वर्णित है] कोट्टरक्कारा नरेश ने 'रामनाट्यम' में कुछ परिवर्तन-संशोधन किये तथा एक नया नृत्य-नाट्य लिखा, जिसमें भगवान राम के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक के वृतान्त को आठ खन्डों में विभाजित कर दिया गया। इन आठों खन्डों के अभिनय में भरत के 'नाट्य शास्त्र' में उल्लिखित सिद्धान्तों का पालन किया गया। यशस्वी महाराज की देख-रेख में कथकलि का इस प्रकार क्रमिक विकास हुआ कि उसमें मलाबार की लोक परम्पराओं के साथ भरत के उच्चकोटि के नृत्य-शास्त्र का भी समन्वय होगया। इसके बाद यह कला १६६५ से लेकर १८४३ ई० तक काफी जनप्रिय होगई।

अन्नामलय विश्व विद्यालय के अध्यापक श्री पिशरोती ने 'राम-नाट्यम' का एक अधिकृत संस्करण प्रकाशित करते हुए बताया है कि

कालीकट के एक शासक ने 'कृष्णनाट्यम' के नाम से भी एक नृत्य–अभिनय चलाया था, जो कि आज भी उतनी ही दक्षता से अभिनीत किया जाता है, तथा जिसकी लोकप्रियता या सौन्दर्य आज तक नहीं घटे हैं। 'कृष्णनाट्यम' की कई बातें कवि जयदेव की अमर रचना 'गीत गोविन्द' से मिलती हैं।

१४ वीं तथा १५ वीं शताब्दियों में ट्रावनकोर का संगीत कवि जयदेव की रचना 'गीत–गोविन्द' के कारण आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तित हुआ। गीत–गोविन्द ने क्षेत्र के संगीत में एक नई चेतना, नये प्राण और नई मधुरिमा फूँक दी। गीत–गोविन्द का अनुपम सौन्दर्य जहां उसके गूढ़ पद्यों में है, वहां उसमें आनन्द के प्रबल भावों की अभिव्यक्ति भी मिलती है। इसके गीतों में गाम्भीर्य, प्रेरणा व सौन्दर्य के साथ एक ऐसी कसक, ऐसा ईश्वर प्रेम था जैसा कि उससे पूर्व लोगों ने कभी अनुभव नहीं किया था, अतः ईश्वर में आस्था रखने वाले व्यक्तियों में देखते ही देखते यह गीत स्थायी रूप से अत्यन्त लोकप्रिय होगये। इन गीतों को यहाँ के संगीत का मापदण्ड समझा जाने लगा और आज तक राज्य के महत्वपूर्ण उत्सवादि पर गीत गोविन्द के अंश बड़ी श्रद्धा से गाये जाते हैं। इसी के परिणाम स्वरूप गायन में पदों का प्रचलन हुआ। इस प्रकार की रचनाओं का प्रारम्भ श्री वीराकेरल वर्मा नामक गीतकार के समय से हुआ, जिन्होंने 'रामायण कथकलि' नामक एक नाट्य–संग्रह लिखा, जिसमें इस प्रकार के गीतों का सफल प्रयोग किया गया था। कोट्टरक्कारा नरेश श्री वीराकेरल वर्मा ने १७ वीं शताब्दी के पूर्व में यह रचना प्रकाशित की थी।

'कृष्णनाट्यम' की तत्कालीन सफलता से प्रभावित होकर एक निकटवर्ती प्रदेश के सरदार ने कालीकट नरेश से प्रार्थना की कि वे अपनी 'कृष्णनाट्यम् मण्डली' को किसी उत्सव में अभिनय करने के लिये सरदार के यहां भेजदें। उस समय आपसी फूट का बोलबाला था। स्थान–स्थान पर लड़ाइयों के अतिरिक्त राजनीतिक दुश्मनियां चल रही थीं, अतः कालीकट नरेश ने न केवल अपने अभिनेता दल को ही भेजने से इन्कार किया, बल्कि सरदार को अपमानित भी किया। उन्होंने दूत द्वारा सरदार से कहला भेजा कि "हमारे कलाकारों को आपके यहां भेजना व्यर्थ होगा, क्योंकि आपके दरबार में कोई भी उनकी उच्चकोटि की कला को नहीं समझ सकेगा।" इसपर पड़ौसी सरदार बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने कालीकट के शासक को नीचा दिखाने के लिये 'रामनाट्यम' नामक नृत्य–अभिनय का आयोजन किया। यही आगे चलकर 'कथकलि' और 'अट्टकथा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ट्रावनकोर के पुरातत्व विभागाध्यक्ष श्री आर० पी० पोडुवल रचित पुस्तक 'ट्रावनकोर का संगीत' में बताया गया है कि कृष्णनाट्यम् से भी पहले जो नृत्य–नाटक प्रचलित थे, उनका नाम है 'चक्कियार कुथू' और 'कुटियट्टम'। इनमें से कुटियट्टम की व्युत्पत्ति केरल के शासकों में पीरूमल परिवार के समय हुई। इन दोनों नृत्य–नाट्य पद्धतियों में कलापूर्ण अभिनय की सारी परम्पराएँ सुरक्षित रखी गई थीं। 'कथकलि' के लिए उपयोग की जाने वाली पोशाकों पर इन प्राचीन नृत्य–नाट्य पद्धतियों का काफी प्रभाव पड़ा। कथकलि को साज–सज्जा, मुद्राएँ, परम्परागत अभिनय, शृङ्गार आदि इन्हीं की देन हैं। धीरे–धीरे

विकसित कला कथकलि चक्कियार कुथू और कुटियट्टम से कहीं ज्यादा लोकप्रिय होगई, क्योंकि यह शेष दोनों पद्धतियों की भांति केवल मन्दिरों तक ही सीमित नहीं थी।

प्राचीन ग्रंथों के अनुसार कृष्णनाट्यम् के अभिनय का प्रथम उल्लेख १६५७ ई० में मिलता है, अतः अधिकृत रूप से यह कहा जा सकता है कि कथकलि का जन्म सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ।

मुद्राओं के नामों तथा बनावट से पता चलता है कि इनका विकास अत्यन्त प्राचीन काल में पशु-पक्षियों तथा विशेष वस्तुओं की नकल करने से हुआ। जैसे पताका, कपोत, कर्त्तरीमुख आदि की मुद्रायें। ये नकलें तांत्रिक युग में उस समय प्रचलित हुईं जब कि ईश्वर की आराधना के लिये मुद्राओं का उपयोग किया जाने लगा था, किन्तु यही मुद्राएँ अपनी जिस विकसित अवस्था में आज प्रचलित हैं, उस विकास का काफी श्रेय प्रसिद्ध विद्वान भरत को है, जिन्होंने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में मुद्राओं का सविस्तार वर्णन किया है।

कथकलि एक ऐसी कला है, जो विभिन्न नाट्य पद्धतियों से जन्म लेकर मनुष्य संस्कृति के विकास के साथ निरन्तर प्रगति करती रही है। यह एक नाट्य प्रधान कला अवश्य है, किन्तु इसमें अभिनय के साथ गीत, वाद्य और नृत्य का भी संतुलित समावेश है।

तृतीय अध्याय

कथकलि कला

भारत में इस समय जो नृत्य पद्धतियां प्रचलित हैं — जैसे मलाबार में कथकलि, उत्तराखण्ड में कत्थक, पूर्वी भागों में मणिपुरी, गुजरात में गर्बा तथा तंजोर और तामिल्लकम क्षेत्रों में दासिअट्टम्- -इन सबों में कथकलि ही एक ऐसी पद्धति है, जिसकी मुद्रायें संख्या में सबसे अधिक व अभिव्यक्तिपूर्ण हैं, क्योंकि कथकलि की स्वांग–एवं अभिनय–प्रधान भूमिकाओं में इनकी आवश्यकता पड़ती रही है। हरे–भरे सम्पन्न प्रदेश केरल में सदा ही नृत्य, नाट्य और नृत्त के साथ संगीत व साहित्य को भी विकास की समुचित सुविधायें उपलब्ध रही हैं। यह प्रदेश विभिन्न कलाओं की उन्नति के लिये आदर्श रहा है।

'अभिनय' चार प्रकार के माने गये हैं:—(१) **सात्विक** : [भाव आदि जिन्हें मानसिक प्रयत्नों से अभिव्यक्त किया जाता है]; (२) **आंगिक** : [अङ्ग–संचालन]; (३) **वाचिक** : [शब्दों में अभिव्यक्ति]; तथा (४) **आहार्य** : जिसके अन्तर्गत वेश-भूषा आदि आते हैं।

'सात्विक' अभिनय में कथा के मर्म स्थल दिखाने के लिये आश्चर्य, स्मित, अश्रु, चिन्ता, व्यग्रता, कम्पन आदि आते हैं। कहानी की घटनाओं को संगीत तथा पद्यों में वर्णित करना **'वाचिक'** अभिनय है। वाचिक अभिनय में वर्णित बातों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये जो हाव-भाव

मुद्राएँ आदि प्रयोग की जाती हैं, वे सब 'आंगिक' अभिनय में आती हैं। उपरोक्त तीनों प्रकार के अभिनयों तथा आहार्य अभिनय, सबका कथकलि में संतुलित समन्वय है, जिससे यह कला यथेष्ट भावपूर्ण तथा संगीतमय प्रतीत होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कथकलि अभिनय कला है। यह एक मिश्रित पद्धति है जिसमें अभिनय की प्रधानता नृत्य, संगीत, काव्य व रंग राग के समन्वय से दर्शाई जाती है। कथकलि की कोई भी भावभंगिमा ऐसी नहीं होती, जिसमें अभिव्यक्ति के लिये लय तथा मुद्राओं का ध्यान न रखा जाय।

कथकलि कलाकारों के शरीर काफी फुर्तीले और लोचदार होते हैं, तभी वे मंच पर इतनी दक्षता से अपनी कला का प्रदर्शन कर पाते हैं। कथा के साथ-साथ अभिनेता नृत्य-अभिनय प्रस्तुत करते हैं। चेहरे के भाव कथानक में रस-परिवर्तन के साथ बदलते हैं। कलाकारों की कमर काफी लचीली होती है। इन शारीरिक सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये नर्तकों को लम्बे समय तक विशेष प्रकार की मालिश—व्यायाम आदि करने पड़ते हैं। बिना शरीर को इस प्रकार बनाये कोई भी कथकलि में निपुण नहीं हो सकता। शरीर के अन्य अङ्गों के फुर्तीले व कलापूर्ण संचालन के साथ ही कलाकार को पदाघात द्वारा ताल और लय का भी ध्यान रखना पड़ता है, तब कहीं उसके नृत्य-अभिनय में सजीवता आती है।

कथकलि में अधिक बल हाव-भाव तथा लयबद्ध अङ्ग-संचालन पर दिया गया है, क्यों कि यह नाट्य प्रधान कला है। इसमें प्रथम महत्व अभिनय का है, तत्पश्चात नृत्य का। इसमें अभिनय के लिये मुद्राओं का विशिष्ट प्रयोग किया जाता है। इस नृत्य नाट्य कला को

हम लयबद्ध भाव-भंगिमाओं की नाट्य कला कह सकते हैं। हालाँकि कथकलि में नृत्य से ज्यादा नाटच को ही माना गया है, फिर भी नृत्य तथा नाटच दोनों इसके अभिन्न अङ्ग हैं। इसके लिये प्रयुक्त श्रंगार, साज-सज्जा व विविध रंग इसे एक अनुपम कला बना देते हैं। कलाकार के हाव-भाव दर्शकों पर गहरा प्रभाव डालते हैं तथा मुद्राओं आदि से कथकलि में मनुष्य की गूढ़ से गूढ़ भावनाओं का ही नहीं, कई अन्य बातों का भी सूक्ष्म चित्रण किया जाता है।

आज जिसे हम 'नाच' कहते हैं, वह अधिकतर ऐसा प्रदर्शन होता है जिसमें ऊपरी दिखावे का ख्याल अधिक रखा जाता है, जिससे न तो भाव अभिव्यक्ति ही हो पाती है, न प्रदर्शन में गहराई व अर्थ का आभास होता है। कथकलि में यह कमी नहीं खलती, हालांकि उसमें कलाकार शब्दों का प्रयोग नहीं करता। कथकलि का दर्शकों पर जो प्रभाव पड़ता है, वह आसानी से भुलाया नहीं जा सकता। चाहे जिस तरह भी देखें, कथकलि एक सर्वाङ्ग सुन्दर कला प्रतीत होती है—एक ऐसी कला जिसके अमरत्व का प्रमाण हमें ऐलोरा की मूर्तिकला व अजन्ता के चित्रों में भी मिलता है।

कथकलि—अभिनय के अन्तर्गत ६४ हस्त-मुद्राओं की वर्णमाला से ५०० शब्दों का अर्थ समझाया जाता है, आंखों की भाषा गूढ़ भावों के लिये होती है। 'चेहरा, मन तथा मस्तिष्क का दर्पण है', यह उक्ति कथकलि में पूरी उतरती है। कुशल अभिनेता अपने चेहरे द्वारा ही क्रोध, साहस, प्रेम, दया, भय आदि के भावों को सफलता पूर्वक व्यक्त करता है।

'त्रिवेणी' के १९३२ के अंक में श्री वेंकटेश्वर ने 'मलाबार की कथकलि' नामक लेख में लिखा है कि "आंखों द्वारा बड़े-बड़े चमत्कार दिखाए जाते हैं, भवों से हृदय के रहस्य प्रकट हो जाते हैं। कई बार तो एक ही बार में आंखों द्वारा दो विरोधी भावों तक को व्यक्त कर दिया जाता है; और चेहरे पर तो सम्पूर्ण कथा ही चित्रित होती है। इन सबके बाद नृत्य का नम्बर आता है।"

कथकलि के गीतों में भी बहुत माधुर्य होता है। नर्तक अपने नृत्य व हाव-भाव दिखाता है जबकि गायक गीत-भूमिका प्रस्तुत करता है। नर्तक जो पदाघात करता है वे ताल और लय के पूरे हिसाब से चलते हैं। कथकलि के पदाघात काफी कठिन होते हैं, अतः बिना पूर्वाभ्यास के कोई इसमें दक्षता नहीं प्राप्त कर सकता। विशेषकर ताल में बोल के अतिरिक्त परन और टुकड़े बजने पर तो नृत्य और भी कठिन हो जाता है। इस समय कलाकार को द्रुतलय में इतनी शीघ्रता से पदाघात करने पड़ते हैं कि मंच भी थरथराने लगता है।

कथकलि में गीत द्वारा रस-विशेष तथा भाव विशेष का प्रादुर्भाव होता है और नृत्याभिनय से इस भाव को प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। दर्शकगण संगीत में खोये बैठे रहते हैं और अभिनेता कोई कथानक प्रस्तुत करता है। विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि कथकलि की कई विशेषताओं में 'चक्कियार कुथू' तथा 'कोटिअट्टम' की झलक दिखाई देती है, किन्तु यह तथ्य भी भुलाया नहीं जा सकता कि उपरोक्त दोनों नृत्य-नाट्य पद्धतियों से जो कुछ भी कथकलि ने लिया है, उसका प्रयोग संशोधन-परिवर्धन आदि के बाद ही किया

गया है। कथकलि की प्रशंसा में विद्वानों ने लिखा है कि "यह एक ऐसी कला है जिसमें नृत्य व नाटच दोनों का संतुलित समावेश है, इसकी अवतारणा इतनी प्रभावोत्पादक होती है कि दर्शक घण्टों मन्त्रमुग्ध हुए बैठे रहते हैं और वे ऊबते नहीं, क्यों कि कथकलि अभिनेता प्रत्येक भाव व रस को बहुत सफलता से व्यक्त करता है।"

सभी कला प्रेमियों ने केरल की इस कला को अद्वितीय माना है, क्योंकि इसमें मौलिकता के अतिरिक्त ऐसी विशेषता भी है जिससे देश की चित्रकला व मूर्तिकला की पुरानी परम्पराओं को अभिनय में उतारा जाता है और साथ ही कोई कहानी भी प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार यह हमारे सांस्कृतिक व सामाजिक जीवन का एक अभिन्न अंग है।

अभिनय कला के विकास में यह एक महत्वपूर्ण बात हुई है कि साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये अंगुलियों की सरल मुद्राएँ बनाली गईं, जिससे अभिनेता को काफी सहायता मिलती है।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि केरल की मंच-कलाओं में कथकलि सर्वोपरि है। मलाबार की यह कला वास्तव में अद्वितीय है क्यों कि इसमें सुन्दर साहित्य, मधुर संगीत, भावपूर्ण अभिनय व लय-बद्ध नृत्य—इन सभी का समन्वय देखने-सुनने को मिलता है।

यह कहा जा सकता है कि नृत्य और अभिनय द्वारा दृश्य-काव्य का प्रदर्शन ही कथकलि है। यह नृत्य-कला भी भारतीय नृत्य नाटच

से ही उत्पन्न हुई है; किन्तु भारतीय नृत्य से यह उतनी ही प्रथक है जितनी कि जावा और बाली की 'वयांग-ऑरगन' नृत्य पद्धति, हलाँकि वह भी भारतीय नृत्य नाट्य से ही निकली है।

इस शास्त्रीय नृत्यनाट्य के सम्बन्ध में एक पौराणिक दन्त कथा भी प्रचलित है। कहते हैं कि प्रारम्भ में कथकलि के अभिनय का आयोजन ब्रह्मा द्वारा देवताओं के मनोरंजन के लिये इन्द्र-दरबार में किया गया था। अपने क्रमिक विकास द्वारा कथकलि आज इतनी सम्पन्न हो चुकी है कि उसमें अनन्त तक का आभास प्रस्तुत किया जाता है। प्राचीन काल से हमारे पूर्वज इस कला को संजोये हुए हैं। इसमें नृत्य और अभिनय की जो परम्पराएँ दिखाई देती हैं, उनके विकास में हमारी संस्कृति का भी काफी हाथ रहा है।

प्रारम्भिक दिनों में कथकलि का स्वरूप भक्ति प्रधान ही रहा, क्योंकि इसमें चारों वेदों व 'पुरषार्थम्' नामक ग्रन्थ की बातों का बाहुल्य था। नन्दिकेश्वर के कथनानुसार "इस नृत्य में ईश्वर भक्ति से भी अधिक सात्विक आनन्द है।" कथकलि में नृत्त, नृत्य व नाट्य का सुन्दर संतुलन है। इसमें लयबद्ध अङ्ग संचालन, सफल भाव अभिव्यक्ति और रस-प्रधान अभिनय से प्रस्तुत की जाने वाली कथा का सौन्दर्य दुगुना हो जाता है। इस प्रकार यह नृत्याभिनय दर्शकों पर गहरा प्रभाव डालता है।

कथकलि का उल्लेखनीय प्रभाव पाश्चात्य नाट्यकला पर भी पड़ा है। अभिनय में हर कलाकार को पूरे रूपक का एक अभिन्न अङ्ग

मानने तथा नाटकीकरण, संगीत, अभिनय, गीत, नृत्य के कई गूढ़ किन्तु वैज्ञानिक सिद्धान्त पाश्चात्य नाट्य जगत को कथकलि की देन हैं। इसी आधार पर एडोल्फ अप्पिया नामक निर्देशक ने वाग्नर के ऑपेरा नई तरह से प्रस्तुत कर एक अभिनव प्रयोग किया था। उन्होंने यह बताने की कोशिश की थी कि नृत्य और अभिनय के साथ भी लयबद्ध संगीत की पृष्ठभूमि आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में एडोल्फ अप्पिया ने कथकलि की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर आदिवासी कथकलि मे मन्त्रमुग्ध हुए रातभर इस कला के प्रदर्शनों का आनन्द लिया करते हैं। यह नृत्य नाट्यकला यहां विकास की चरम सीमा तक पहुंच चुकी है। इसका अभिनय वस्तुतः निर्दोष है।

कथकलि के जीर्णोद्धार का बहुत कुछ श्रेय महाकवि वल्लथोल को भी है, जिन्होंने इस कला में नये प्राण फूँके। इण्डियन रिव्यू के दिसम्बर १९३९ के अङ्क में श्री के० पी० पी० टैम्पी लिखते हैं कि "विकासोन्मुख कला कथकलि का भविष्य उज्ज्वल है। आज पश्चिम के अधिकाधिक कला प्रेमी वल्लथोल के 'केरल कला मंडलम्' में आकर इसे देख रहे हैं।" इस संस्था में दक्ष कलाकारों का एक ऐसा दल था, जिसने नृत्य के विकास को ही अपने जीवन का मुख्य ध्येय बना रखा था। महाकवि वल्लथोल व उनके दल के अन्य नर्तक-सदस्यों ने कथकलि का एक ऐसा निखरा स्वरूप प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की कि पाश्चात्य कला प्रेमी भी उसकी प्रशंसा किये बिना न रह सके। इन नये परिवर्तित प्रदर्शनों में प्रस्तुतीकरण का टैकनीक बदल दिया गया था, कलाकारों

की साज–सज्जा तथा शृङ्गार में भी वांछनीय परिवर्तन किये गये थे और अभिनय समय भी सीमित कर दिया गया था; कला के सात्विक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया था, संगीत को नृत्य व अभिनय से एकरूप करने के लिये अधिक प्रयत्न किया गया था, किन्तु नृत्य-नाट्य का मूलस्वरूप, परम्परागत गौरव व व्यक्तित्व सुरक्षित रखे गये थे। इस कला ने सीमित अर्थ में जिस परिवर्तनशीलता का परिचय दिया है तथा पाश्चात्य कला प्रेमियों ने इसे जो मान्यता दी है वह इस बात का समुचित प्रमाण है कि जब तक हिन्दुओं की प्राचीन परम्परायें, संस्कृति व सभ्यता सुरक्षित हैं, तब तक कथकलि का भी अन्त नहीं हो सकता।

श्री गोपीनाथ ने, जिन्हें कि स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'एक सच्चा कलाकार' कहा है, 'श्री चित्रोदय नृत्यकलायम्' नामक संस्था की स्थापना की है। ट्रावनकोर के राजकीय नर्तक द्वारा संस्थापित यह प्रतिष्ठान केरल में काफी प्रसिद्ध है। इसके शिक्षक कलाकार भरत के 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार नर्तन की शिक्षा देते हैं। कथकलि शिक्षा के लिये यह विद्यालय भारत में अग्रणी है। श्री गोपीनाथ को भारत तथा विदेशों के कला-समालोचकों से काफी प्रशंसा प्राप्त हुई है।

श्री के. पी. पी. टैम्पी ने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि "केरल की जन कलाओं में कथकलि ही निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ है; इसमें भावपूर्ण काव्य का आकर्षण है तो हृदय को प्रभावित करने की क्षमता भी है।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कथकलि एक 'मिश्रित' कला है, जिसमें संगीत, काव्य-साहित्य, नृत्य, अभिनय आदि का संतुलित समन्वय है। इसमें भाव-भंगिमायें हैं, अभिनय पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ साज-शृङ्गार का आकर्षण, गायन की मधुरिमा तथा एक ऐसा सौंदर्य है जिसमें मूर्तिकला तथा चित्रकला की भी झलक दिखाई देती है।

चतुर्थ अध्याय

कथकलि का नृत्य व शैली

कथकलि में विद्यार्थी जितना श्रम करता है, उतनी ही सिद्धि उसे प्राप्त होती है। वैसे तो यह बात सभी कलाओं के लिये कही जा सकती है, किन्तु यहां इस बात पर इसलिए अधिक बल दिया जारहा है कि कथकलि के लिये प्रारम्भ में बहुत अभ्यास की आवश्यकता है। ११ से १४ वर्ष की अवस्था के बीच कथकलि विद्यार्थी को एक विशेष प्रकार के शारीरिक शिक्षा–केन्द्र **'कलारी'** में प्रवेश करना होता है। यहां वह गुरु–दीक्षा लेकर भविष्य के लिए तैयारी करता है। कलारी में प्रत्येक विद्यार्थी को एक ३ गज़ लम्बा व ६ इञ्च चौड़ा कच्चा वस्त्र दिया जाता है, जिसे कमर में बांधकर धारण करना पड़ता है। इसके बाद विद्यार्थी के शरीर पर तेल की हलकी मालिश कर उससे विशेष प्रकार से अंग-संचालन करने को कहा जाता है ताकि उसका शरीर लोचदार बन सके। जब इस व्यायाम से शिक्षार्थी थक जाता है और उसके शरीर से पसीना निकलने लगता है तो उसे घास तथा केले की छाल से बने बिस्तर पर लेटकर विश्राम करने को कहा जाता है। इसके बाद एक शिक्षक ऊपर से रस्सी के सहारे लटक कर अपने पैरों से विद्यार्थी के शरीर की मालिश करता है। यह क्रम प्रातः कई घन्टों तक चलता है। इसके बाद दोपहर को विद्यार्थी लयबद्ध अङ्ग संचालन की शिक्षा ग्रहण करता है।

पाठ्यक्रम में प्रारम्भिक व्यायामों के पश्चात् विभिन्न रसों से उत्पन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिये आँखों, भवों, होठों, गर्दन आदि का

संचालन सिखाया जाता है। तीसरी श्रेणी में मुद्राओं का उपयोग तथा अंगुलियों के प्रयोग का ज्ञान कराया जाता है। अन्त में लय की सविस्तार जानकारी दी जाती है। हाथ तथा पाँव दोनों ही लय में चलते हैं।

उपरोक्त चारों प्रकार का प्रशिक्षण पूर्ण करते-करते ३ से ५ माह तक का समय लग जाता है, जिसके बाद विद्यार्थी को प्रथमबार मंच पर आकर अभिनय करने का अवसर दिया जाता है। इसके बाद कला में दक्षता कई वर्षों के अनवरत परिश्रम व अभ्यास से प्राप्त होती है। एक प्रकार के ताल-वाद्य 'चेंदा' के साथ नृत्याभिनय का अभ्यास करते हैं जिसे 'चोल्लियाट्टम' कहा जाता है। कथकलि के सफल अभिनेता के लिये कम से कम छः वर्ष का अभ्यास अनिवार्य माना गया है। प्रति वर्ष वर्षा ऋतु में [जून से लेकर अगस्त तक] कलाकार फिर कलारी में जाकर विशेष प्रकार की मालिश करवाते हैं और साथ ही अभ्यास के लिये अङ्ग-प्रत्यङ्गों से विभिन्न क्रियाएँ किया करते हैं।

शरीर के सभी अङ्गों में लचक आजाने तथा हस्त-मुद्राओं में उंगलियों की पूर्ण भूमिका समझकर अभ्यास परिपक्व होजाने पर ही कोई कलाकार सही अर्थ में कथकलि-अभिनेता कहा जा सकता है। उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह प्रत्येक मुद्रा को भली भांति जानता हो। नृत्य कथकलि का महत्वपूर्ण एवं अभिन्न अंग जरूर है, किन्तु इस कला की आत्मा भाव-भंगिमा ही है।

केरल में प्रचलित नृत्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है (१) धार्मिक; (२) अर्ध धार्मिक तथा (३) धर्म निरपेक्ष ।

'भगवतीपत्तू', **'तिय्यातू'**, **'पान'**, **'पत्तू'**, व इसी प्रकार के अन्य नृत्य प्रथम श्रेणी में आते हैं, क्योंकि इन्हें देवी भगवती के अभिनन्दन में प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे नृत्य बहुधा मन्दिरों में या विशेष त्यौहारों आदि पर देवी पूजा के लिए घरों में प्रस्तुत किये जाते हैं।

दूसरी श्रेणी में **'कुट्टू'**, **'कृष्णाट्यम'**, **'संघाक्कली'** इत्यादि शास्त्रीय नृत्य आते हैं, जिन्हें संस्कृत भाषा के बाहुल्य, भक्ति भाव की प्रचुरता तथा पौराणिक एवं धार्मिक कथानकों की पृष्ठभूमि के कारण अर्ध-धार्मिक माना गया है।

धर्म-निरपेक्ष नृत्यों के अन्तर्गत **'तुल्ला'**, **'मोहिनीयट्टम्'**, **'काय्यु-कोट्टिक'**, **'पथकम'** और **'कथकलि'** आते हैं। यों तो ये सभी अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य हैं, किन्तु इनमें कथकलि का अपना विशिष्ट स्थान है, क्योंकि इसमें नृत्य, संगीत व नाट्य के साथ ही सुन्दर वेशभूषा, शृङ्गार आदि का अतिरिक्त आकर्षण रहता है। कथकलि नाट्य कहीं बन्द स्थान पर ही मंचस्थ किया जाय, यह जरूरी नहीं। बहुधा यह खुले में ही प्रस्तुत किया जाता है।

कथकलि नृत्य-नाट्य के प्रारम्भ होने से पूर्व वादक (जिसे **'चेंदाकरन'** कहते हैं) ढोल पीटकर इसकी घोषणा करता है। इस घोषणा करने को **'केलिकोट्टू'** की संज्ञा दी जाती है। ढोल की आवाज़ सुनकर आस-पास के लोग नाट्य देखने के लिए एकत्रित हो जाते ।

कथकलि नाट्य, मञ्च पर प्रस्तुत किया जाने से पहले गांव के किसी मन्दिर में **'सेवाकली'** पेश की जाती है। इस छोटे से पूर्वाभिनय द्वारा

देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है, इससे दर्शक शान्त होकर आगे का अभिनय देखने को तैयार हो जाते हैं, और यह पूर्वाभिनय कलाकारों द्वारा अभिनीत किये जाने वाले रूपक की भूमिका भी होता है। इस भूमिका में कलाकार अपने करतब दिखाकर श्रोताओं को पहिले ही प्रभावित कर देते हैं।

कथकलि देखने के लिये दर्शकों से कोई प्रवेश–शुल्क नहीं लिया जाता। मथुरा में जिस प्रकार 'रास–लीला' बंगाल में "जात्रा" व गुजरात में 'हल्लीसक' मुफ्त दिखाये जाते हैं, उसी प्रकार कथकलि के लिये भी दर्शकों को कुछ नहीं देना पड़ता।

कथकलि के साथ संगत–वाद्य होते हैं: —भारी झांझों की जोड़ी, मृदंग की ही तरह की एक ढोलक — मद्दलम, चेंदल नामक एक अन्य ढोल जिसे लकड़ी से बजाया जाता है और एक घंटा। इन साजों को बजाने वाले कोई विशेष पोशाक नहीं पहनते, क्योंकि उनका कार्य पार्श्व-संगीत भर देने का होता है; वे मंच पर नहीं आते।

प्रायः कथकलि नृत्य नाटच, भोजन आदि के बाद रात्रि को ९ बजे के लगभग आरम्भ होता है। पर्दा उठते ही पात्र अपनी–अपनी भूमिका के अनुसार मंच पर अवतरित होते हैं। प्रारम्भ में पर्दा उठते समय मंच पर यदि नायक या नायिका को पहले आना हो तो यह शुरूआत और भी प्रभावोत्पादक होती है। इस समय प्रकाश तीव्र रहता है तथा स्टेज की भव्य सजावट देखते ही बनती है। साथ ही संगीत भी विशेष आकर्षक होता है, ताकि दर्शक गण शुरू से ही प्रभावित होकार प्रशंसा कर उठें।

पर्दा उठते ही प्रथम दृश्य को 'पुरापड्डू' कहा जाता है। पुरापड्डू में अभिनेता घुटने झुका कर मंच पर, दोनों ओर कतार बांधे इस प्रकार

खड़े रहते हैं कि उनके मुख सामने की पंक्ति की ओर होते हैं। यहीं से वाद्य वृन्द का कार्य शुरू होता है। वाद्य संगीत व गायन आरम्भ होता है। गायक अभिनेताओं के पीछे खड़े रहते हैं। कथकलि का मूल प्रदर्शन आरम्भ होने से पहले ताल वाद्य बजाने वाले अपनी दक्षता का परिचय देते हैं और गायक **'मंजूथरा'** नामक एक गीतमाला प्रस्तुत करते हैं, जोकि कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' का ही एक अन्श है। अब लय और संगीत के भावों के साथ अभिनेता नृत्याभिनय शुरू करते हैं। इसके साथ ही दर्शक गण और भी सजग होकर देखने लगते हैं तथा समालोचक अधिक सतर्क हो जाते हैं। भरत ने अपने नाटच शास्त्र में इस प्रथम दृश्य को **'पूर्व–रंग'** की संज्ञा दी है। कथकलि में इसे **'टोटायम्'** कहा जाता है। इसके बाद **'टोटायम–पुराफ्फलन'** का अभिनय किया जाता है ['टोटायम पुराफ्फलन' को भरत ने **'नंदी'** कहा है]

कथकलि मंच पर सामान्य पात्रों को शब्द प्रयोग करना निषिद्ध है; केवल दैत्य या खलनायक विशेष प्रकार से बोलते, चिल्लाते, आहें भरते और कराहते हैं। कथकलि नृत्य की मुद्राएँ इसीलिये इतनी विस्तृत, व्यापक एवं सूक्ष्म हैं क्यों कि कलाकारों को सभी भावों व रसों की अभिव्यक्ति केवल भाव-भंगिमाओं व मुद्राओं से ही करनी पड़ती है। अभिनेता बहुत ही कलापूर्ण ढङ्ग से मुखाकृति द्वारा भाव व्यक्त करते हैं; साथ में जो मुद्राएँ प्रदर्शित की जाती हैं उनकी अपनी महत्व–पूर्ण भाषा होती है। इस प्रकार परस्पर मूक–वार्तालाप के पश्चात् अभिनेता थोड़ा नृत्य करते हैं। यह नृत्य और मुद्रा–संवाद **'कालब'** कहलाता है।

कथकलि के अन्तर्गत स्त्री-तथा पुरुष दोनों ही की भूमिकाओं में पुरुष अवतरित होते हैं।

इसमें नाट्य व साहित्य दोनों का रसास्वादन कराया जाता है। प्रस्तुत की जाने वाली कथा के संवाद गीतों में तथा घटनाएँ कविता में बोली जाती हैं। संवाद मलयालम में होते हैं, जबकि घटनाचक्र की भाषा संस्कृत व मलयालम दोनों ही होती हैं।

पात्रों को परिचय के साथ मंच पर उतारा जाता है, परिचय प्रायः श्लोक में देते हैं। परिचय समाप्त होने के बाद उस पात्र का संवाद प्रारम्भ हो जाता है।

कथकलि साहित्य की विस्तृत पृष्ठभूमि में उच्चकोटि के संगीत शास्त्र व अन्य कलाओं की झलक मिलती है। पुराणों, रामायण व महा-भारत की कथाओं पर आधारित कथकलि एक ऐसी अद्वितीय नृत्य-नाट्य कला है, जिसके विकास का श्रेय लोगों की भक्ति भावना, कला-प्रेम, निस्वार्थता, परिश्रम, उच्च आदर्श, रस व भावों की उचित अभिव्यक्ति तथा नृत्य व ताल और लय के सिद्धांतों के ज्ञान को है। इसमें लय, स्वर-माधुर्य व भावपूर्ण अभिनय तीनों का संतुलित प्रदर्शन किया जाता है, जिससे नृत्य, संगीत और अभिनय का आनन्द दर्शक को एक ही बार में प्राप्त हो जाता है। नृत्याभिनय करने वाला, वादक की ताल, गायक के संगीत और मूल कथानक के भावों का ध्यान रखते हुए अपनी कला का प्रदर्शन करता है।

कथकलि के लिये चुनी जाने वाली कथाएँ सुखान्त व दुखान्त दोनों ही प्रकार की होती हैं, किन्तु दुखान्त कथानक अधिक यथार्थता लिये

हुए होते हैं। मलाबार प्रदेश की शान्तिपूर्ण रातों का सजीव अंधकार इन कथाओं के लिये अनुकूल 'वातावरण' तैयार करता है; मंच पर कोई दृश्यावली नहीं बनाई जाती। प्रकाश के लिये पीतल का एक बड़ा लैम्प भूमि से ३—३॥ फीट ऊपर लटकाया जाता है। इस लैम्प में नारियल का तेल जलता है, और इसकी कई बत्तियां होती हैं, जोकि सर्वत्र व्याप्त अन्धकार में 'जीवन' व 'प्रकाश' की प्रतीक होती हैं।

कथकलि कलाकारों में अधिकांश उच्च वर्ग के हिन्दू होते हैं। कथकलि कला के सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन ट्रावनकोर के महाराज की वर्ष गांठ या मन्दिरों के विशेष उत्सवों पर देखने को मिलते हैं। विशेषकर त्रिवेंद्रम के **'पद्म—नाभ स्वामी मन्दिर'** में आयोजित उत्सवों पर तो कथकलि की ही धूम रहती है। इसीलिये ट्रावनकोर के प्रत्येक बड़े मन्दिर का अपना 'कथकलि—मण्डल' होता है।

कथकलि अभिनय सामान्यतया ६ घण्टे तक चलता है, फिर भी दर्शक ऊबते नहीं ! यह आश्चर्य की बात अवश्य है, किन्तु इसका कारण भी है; जो कथानक स्टेज किया जाता है उसकी प्रत्येक बारीकी इतने भाव पूर्ण ढंग से प्रस्तुत की जाती है कि दर्शक की उत्सुकता बनी रहती है और वह अन्त तक मन्त्रमुग्ध सा बैठा रहता है। इसीलिये कथकलि में उन्हीं कलाकारों को सफल माना गया है, जिनका अभिनय अत्यन्त समवेदनाशील व सूक्ष्म हो।

कथकलि कलाकार के अभिनन्दन के लिये यहाँ एक विशेष कविता प्रसिद्ध है। उसका भावार्थ इस प्रकार है:—

पवित्र नर्तक !

तुम्हारे नृत्य में स्वतन्त्रता की झलक भी है और स्वप्नों का साकार स्वरूप भी।

तुम्हारी लय में जाने कितनी सृष्टियों व विनाश का रहस्य छिपा हुआ है।

तुम्हारे नृत्याभिनय में सौन्दर्य है, सितारों की लयबद्ध गति का क्रम है एवं जीवन की वेदना भी है।

तुम धन्य हो !

तुम्हारी कला में सुख-दुःख की धूप-छांह का कितना यथार्थ चित्रण है !

कथकलि नृत्य के साथ अभिनय।

पंचम अध्याय
सांकेतिक भाषा व भावभंगिमा

कथकलि में शरीर के अङ्गों के लयबद्ध, क्रमिक संचालन के अतिरिक्त सांकेतिक भाव–भंगिमाओं पर ही अधिक बल दिया गया है। भाव–भंगिमाएँ व मुद्राएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं:—प्राकृतिक, प्रतिरूपी व प्रसारित।

(१) **प्राकृतिकः**—प्राकृतिक भावभंगिमा किसी भाव विशेष का स्वाभाविक वाह्य प्रभाव होती है।

(२) **प्रतिरूपीः**—में किसी वस्तु की नकल उतारी जाती है।

(३) **प्रसारितः**—मुद्राएँ तांत्रिक लक्षणों से बनती हैं। आराधना, दान, वरद आदि इसके उदाहरण हैं।

उपरोक्त तीनों प्रकार की सांकेतिक भाव-भंगिमाएँ शिर, शरीर के अन्य अङ्ग तथा हस्तमुद्राओं से व्यक्त की जाती हैं। शिर द्वारा भावों की अभिव्यक्ति के लिये आँखों, भवों, होठों, दांतों, कानों, गालों आदि से विभिन्न क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अङ्ग संचालन के अन्तर्गत पाँव, एड़ी, घुटने, कमर आदि अंगों की क्रियाएँ आती हैं। इसके अतिरिक्त अँगुलियों से भी अर्थपूर्ण संकेत किये जाते हैं।

नाट्यशास्त्र के लेखक भरत ने शिर की १३, भवों की ७, आंखों की ३६, गरदन की ६, पलकों की ६, नांक की ६, गालों की ६,

निचले होठ की ६, ठोड़ी की ६ तथा मुख की ६ क्रियाओं और चार प्रकार की मुखाकृतियों का सविस्तार उल्लेख किया है। इनमें से कुछ कथकलि में भी प्रयुक्त होती हैं। शिर की ६, भवों की ६, आंखों की ११ तथा गरदन की ४ वर्णित क्रियाओं का कथकलि में भी समावेश किया गया है। पाठकों की सुविधा के लिये भरत द्वारा बताई गई क्रियाओं का विवरण यहां दिया जाता है:—

(अ) शिर की १३ क्रियाएँ

आकम्पितं कम्पितं च धूतं विधुतमेव च ।
परिवाहितोद्वाहितकमवधूतं तथाञ्चितम ॥
निहञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम ।
लोलितं चैव विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ॥

—नाट्यशास्त्र

(१) **आकम्पितः**—शिर को मोड़कर ऊपर से नीचे की ओर हिलाना। इससे परिचय, वार्तालाप, इंगित करने, प्रश्न करने व निर्दोष होने का भास होता है।

(२) **कम्पितः**—शीघ्रता से ऊपर-नीचे शिर हिलाना। इससे उद्वेग, संशय, दूसरे को डराना आदि के भाव व्यक्त किये जाते हैं।

(३) **धूतः**—इस प्रकार शिर को धीरे से हिलाने से संकट, आश्चर्य, निषेध, रिक्तता, अरुचि आदि का बोध होता है।

(४) विधुतः—शिर को बारम्बार हिलाना । इससे नशा, जुकाम, ज्वर आदि का आभास मिलता है ।

(५) परिवाहितः—एक ओर से शिर को दूसरी ओर लेजाने की क्रिया । इसका अर्थ है—उदगम, चमत्कार, आनन्द, स्मृति, क्रोध, चिंता, विपत्ति व क्रीड़ा ।

(६) उद्वाहितः—शिर को तिरछाई में उठाकर वैसे ही रखना । इस क्रिया से गर्व, महत्वाकांक्षा, कनखियों से देखना व आत्मनिर्भरता का बोध होता है ।

(७) अवधूतः—यदि उद्वाहित में शिर को एक बार नीचे कर लिया जाय तो वह अवधूत क्रिया होगी । इससे ज्ञान, आमंत्रण, संकेत व कुछ कहने का भास होता है ।

(८) अंचितः—इसमें शिर को एक ओर झुका लिया जाता है । यह क्रिया—चिंता, मूर्छा व अस्वस्यता की परिचायक है ।

(९) निहन्चितः—शिर को कुछ उठाकर एक कन्धा भी उठाया जाता है और वह शिर को छू देता है । साथ ही भँवों को धनुषाकार बना लिया जाता है । इस भंगिमा का अर्थ है—प्रिय वस्तु से विछोह, प्रेमी की अनुपस्थिति में मूक प्रेम-पुकार, बिछुड़े प्रेमी का दुख, सम्मान व प्रतिष्ठा को दबाना ।

(१०) परावृत्तः—शिर को एक ओर मोड़ना, इस क्रिया से मुड़कर पीछे की ओर देखना सूचित किया जाता है ।

(११) उत्क्षिप्तः—शिर को ऊँचा रखने से भक्ति तथा उच्च आदर्श भावों का बोध कराया जाता है।

(१२) अधोगतः—शिर को मोड़कर झुका लेने से लज्जा, संकोच, अभिवादन और व्यथा का भाव व्यक्त किया जाता है।

(१३) लोलितः—शिर को चारों ओर मंडलाकार बनाकर घुमाना। इस क्रिया से मूर्च्छा, रोग, नशा, आसक्ति आदि का बोध होता है।

(ब) ३६ प्रकार की दृष्टियाँ

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा।
रौद्री वीरा च वीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टयः॥
स्निग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा दृप्ता भयान्विता।
जुगुप्सिता विस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टयः॥
शून्या च मलिना चैव श्रान्ता लज्जान्विता तथा।
ग्लाना च शङ्किता चैव विषण्णा मुकुला तथा॥
कुञ्चिता चाभितप्ता च जिह्मा सललिता तथा।
वितर्किताऽर्धमुकुला विभ्रान्ता विप्लुता तथा॥
आकेकरा विकोशा च त्रस्ताथ मदिरा तथा।
षट्त्रिंशद् दृष्टयो ह्येता नामतोऽभिहिता मया॥

(१) **रस दृष्टियाँ**—कान्त, भयानक, हास्य, करुण, अद्भुत, रौद्र, वीर और वीभत्स।

(२) **स्थायिभाव दृष्टियां**—स्निग्ध, हृष्ट, दीन, क्रुद्ध, द्रप्त, भयान्वित, जुगुप्सित तथा विस्मित ।

(३) **संचारी दृष्टियां**—शून्य, मलिन, श्रान्त, लज्जान्वित, ग्लानि, शंकित, विषण्ण, मुकुल, कुंचित, अभितप्त, जिह्म, सललित, वितर्कित, अर्धमुकुल, विभ्रान्त, विप्लुत, आकेकर, विकोश, तृस्त और मदिरा ।

(स) ८ प्रकार के रूप

समं साच्यनुवृत्ते तु आलोकितविलोकिते ।
प्रलोकितोल्लोकिते चावलोकितमेव च ॥

सम, साच्य, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित व अवलोकित ।

(द) आंखों की पुतलियों की ६ क्रियायें

भ्रमणं वलनं पातश्चलनं सम्प्रवेशनम् ।
विवर्तनं समुद्वृत निष्क्रामः प्राकृतं तथा ॥

भ्रमण (आंखों को चारों ओर घुमाना), वलन (आंखों का त्रिकोणात्मक संकोचन–दया–सूचक), पात (झुकी हुई), चलन (आतुर), सम्प्रवेशन (आंखों को भीतर खींचना), विवर्तन (कटाक्ष से देखना), समुद्वृत (आंखें उठाकर ऊपर देखना), निष्क्राम (बाहर निकालना) और प्राकृत ।

(क) पलकों की ६ क्रियाएँ

उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसृतं कुञ्चितं समम् ।
विवर्तितं प्रस्फुरितं पिहितं सविताडितम् ॥

उन्मेष (खोलना), निमेष (बन्द करना), प्रसृत (ज्यादा खोलना), कुंचित (पलकों को तिरछा करना), सम (प्राकृतिक स्थिति), विवर्तित (ऊपर चढ़ाना), प्रस्फुरित (झपकाना), पिहित (क्रोधावेश में बन्द करना) और सविताडित (आहत आंख)।

(ख) भवों की ७ क्रियाएँ

उत्क्षेपं पातनं चैव भ्रुकुटी चतुरं भ्रुवोः ।
कुञ्चितं रेचितं चैव सहजं चेति सप्तधा ॥

साधारणतया भवों की क्रियाएँ पुतलियों व पलकों की क्रियाओं से सम्बद्ध हैं। पृथक क्रियाएँ हैं—उत्क्षेप (ऊपर चढ़ाना), पातन (गिराना), भृकुटि (भवों को इधर-उधर घुमाकर चढ़ाना), चतुर (फैलाना), कुचित (नीचे की ओर मोड़ना), रेचित (एक भौंह को ऊपर उठाना) और सहज (स्वाभाविक स्थिति)।

(ग) नाक की ६ क्रियाएँ

नता मन्दा विकृष्टा च सोच्छ्वासा च विघूर्णिता ।
स्वाभाविका चेति बुधैः षड्विधा नासिका स्मृता ॥

नत (बन्द करना), मन्द (छिपाना), विकृष्ट (नथुने फैलाना), सोच्छ्वास (गहरी सांस लेना), विघूर्णित (ईर्ष्या या अस्वीकृति से नथुने सिकोड़ना), और स्वाभाविक।

(घ) गालों की ६ क्रियाएँ

क्षामं फुल्लं च पूर्णं च कम्पितं कुञ्चितं समम्।
षडविधं गाण्मुदिष्टं तस्य लक्षणमुच्यते ॥

क्षाम (नीचे की ओर), फुल्ल (फुलाये हुए), पूर्ण (फैलाये हुए), कम्पित, कुंचित (संकुचित), और सम (प्राकृतिक)।

(प) निचले होठ की ६ क्रियाएँ

विवर्तने कम्पनं च विसर्गो विनिगूहनम्।
सन्दष्टकं समुद्गं च षट् कर्माण्यधरस्य तु ॥

वर्तन (सहनशील), कम्पन, विसर्ग (फूले हुए), विनिगूहन (अन्दर-दबाना), सन्दष्टक (दांतों से चबाना), और समुद्ग (प्राकृतिक)।

(फ) चिबुक की ६ क्रियाएँ

कुट्टनं खण्डनं छिन्नं चुक्षितं लेहनं समम् ॥
दष्टं च दन्तक्रियया चिबुकं त्विह लक्ष्यते ॥

कुट्टन (दांत पीसना), खण्डन (दांत घिसना), छिन्न (दांत दबाना), चुक्षित (फैलाना), लेहन (होटों से लगाना), और सम (प्राकृतिक)।

(ब) मुँह की ६ क्रियाएँ

विधुतं विनिवृत्तं च निर्भग्नं भुग्नमेव च।
निवृत्तं च तथोद्वाही कर्माण्यत्रास्यजानि तु ॥

विधुत (तिरछाई में खोलना), विनिवृत्त (पूर्ण खोलना), निर्भग्न (नीचे की ओर) भुग्न (एक ओर खोलना), निवृत्त (होंठ खोलना), और उद्वाही (ऊपर की ओर खोलना)।

(भ) चार प्रकार की मुखाकृतियां

स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तः श्यामोऽर्थसंश्रयः।

स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम।

(म) गरदन की ६ क्रियाएँ

समा नतोन्नता त्र्यस्रा रेचिता कुञ्चिताञ्चिता।
वलिता च निवृत्ता च ग्रीवा नवविधार्थतः ॥

सम (स्वाभाविक), नत (झुकी हुई), उन्नत (उठी हुई), त्र्यस्र (एक ओर झुकी हुई), रेचित (शीघ्रता से चारों ओर घूमती हुई), कुञ्चित (थोड़ी झुकी हुई), अंचित (बढ़ाकर एक ओर झुकाना), वलित (किसी ओर घुमाना) और निवृत्त (दूसरे की ओर)।

इन क्रियाओं के साथ ही वक्ष, पांव, कमर, जंघा, कन्धों आदि की सहायक-क्रियाएँ भी की जाती हैं। जब शरीर के सारे अङ्गों की

क्रियाएँ एक साथ होती हैं तब एक निश्चित सांकेतिक अर्थपूर्ण भंगिमा बन पाती है। इन भंगिमाओं के साथ जो विभिन्न हस्त मुद्राएँ बनाई जाती हैं तथा शरीर जिस मुद्रा में रहता है, उन सब का सम्मिलित प्रभाव दर्शक को अपना ही सन्देश सुनाता है।

'संगीतरत्नाकर' में सांकेतिक भंगिमाओं का उल्लेख करते हुए शार्ङ्गदेव जी ने लिखा है कि "संकेत व हस्त मुद्राओं का उपयोग इस प्रकार होना चाहिये कि अन्य अङ्गों द्वारा व्यक्त भाव और भी स्पष्ट हो जांय।"

नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैरुपाङ्गैरुपबृंहिता: ।
प्रत्यंगैश्च करा: कार्या रसभावप्रदर्शका:

—सङ्गीत रत्नाकर

'अभिनय दर्पण' में नन्दिकेश्वर ने लिखा है कि "जहां हाथ हों वहीं दृष्टि हो, जहां दृष्टि हो वहां मन, जहां मन हो वहीं भाव हों, तब भावों द्वारा रस की सृष्टि होगी:—

यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मन: ।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रस: ॥

—अभिनय दर्पण

धार्मिक नृत्य के समय नर्तक कुछ दिव्य-क्रियाओं का भी प्रयोग करते हैं, जिनसे कि निश्चित भावों व रसों की अभिव्यक्ति होती है।

'मुद्राएँ' हाथों की विभिन्न स्थितियां हैं, जिनसे भावों के अतिरिक्त जड़, चेतन व कल्पित वस्तुओं का आभास मिलता है। इन मुद्राओं की

अपनी विशेष भाषा है, जिससे कि अभिनेता अपने अन्तर के गूढ़तम भावों को दर्शकों तक पहुँचाता है।

मुद्राओं की व्युत्पत्ति वैदिक काल में हुई थी। प्रसिद्ध विद्वान भरत ने अपने 'नाटच शास्त्र' में मुद्राओं का वर्गीकरण भी किया है। अन्य समकालीन ग्रन्थों—जैसे 'अभिनय दर्पण' व 'लक्षण दीपिका' आदि में भी इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

मुद्राओं के दो प्रकार होते हैं—(१) असंयुक्त हस्त (एक हाथ), और संयुक्त हस्त (दोनों हाथ)। भरत के नाटच शास्त्र में २४ असंयुक्त, १३ संयुक्त और २७ मिश्रित मुद्राओं का वर्णन मिलता है। मलयालम के एक प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थ में २४ असंयुक्त और ४० सयुक्त मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। 'सिलाप्पथिकारम्' नामक ग्रन्थ में कुल ३३ मुद्रएँ बताई गई है, जबकि कुछ अन्य ग्रंथों में २८ असंयुक्त व २४ संयुक्त मुद्राओं का उल्लेख है।

कथकलि में ६४ मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुद्राएँ भरत के 'नाटच शास्त्र' व "अगामस" नामक ग्रंथों से ली गई हैं, और इनके निश्चित अर्थ हैं। कुछ मुद्राओं में दो अर्थों का विरोधाभास भी मिलता है।

औसत दरजे के कथकलि कलाकार को पताका, कटका, मुद्रा और मुष्टि इन चार प्रकार की मुद्राओं में सफलता मिलती है। इन चारों मुद्राओं की सहायता से साधारण कथानक प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

हस्त–मुद्राओं का निम्नांकित वर्गीकरण भरत ने किया था:—

उत्कर्ष, विकर्ष, वापकर्ष (आकर्षण) परिगृह (गृहण करना), निगृह (त्याग करना), आह्वान (निमंत्रण), नोदन (क्रूरता), संश्लेष (आलिङ्गन), वियोग, रक्षण (रक्षा), मोक्षण (मोक्ष), विक्षेय (फेंकना) धूनन (हिलाना, धुनना), विसर्ग, तर्जन (डराना), छेदन (छेदना), भेदन (काटना), स्फोटन (तोड़ना), मोहन (दबाना) और ताड़न (पीटना) ।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथकलि नृत्य–नाट्य में भाव अभिव्यक्ति के लिये एक अपनी विकसित सांकेतिक मुद्रा–भाषा है ।

छटा अध्याय

मुद्राएँ एक साथ की

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मुद्राओं द्वारा ही एक अभिनेता कथकलि में कहानी कहता है और इन्हीं से दर्शक सब कुछ समझते हैं। अभिनय में स्वांग की प्रधानता होने से इनका महत्व और भी बढ़ गया है। 'मुद्रा' का मूल, शाब्दिक अर्थ 'मुहर' या 'छाप' है; केरल में नर्तन कला के विकास तथा प्रसार के ही साथ, सम्भवतः इस शब्द का भी कलापूर्ण अर्थ के लिये प्रयोग किया जाने लगा।

जिस प्रकार गूंगे-बहरों, जंगली जातियों, मूक पशुओं व बालकों की अपनी भाषा होती है, उसी प्रकार कथकलि की मुद्राओं की भी एक भाषा है, जो असाधारण विकास द्वारा आज उस स्थान तक पहुँच गई कि उसके संकेतों द्वारा सभी कुछ व्यक्त किया जा सकता है।

यह भी बताया जा चुका है कि सांकेतिक मुद्राओं की वर्णमाला में ५०० के लगभग शब्द हैं। हो सकता है कि इस कला के विकास के साथ किसी समय इन शब्दों को क्रमवार रखकर एक कोष भी तैयार किया जा सके।

मुद्राओं तथा उनसे सम्बद्ध भावों का ब्योरा इस प्रकार है:—

कथकलि की मुद्राएँ

१—पताका
२—त्रिपताका
३—कर्तरिमुख
४—अर्धचन्द्र
५—अराल
६—शुकतुण्ड
७—सूचीमुख
८—मृगशीर्ष
९—हंसास्य
१०—मुष्टि
११—शिखर
१२—कपित्थ
१३—भ्रमर
१४—हंसपक्ष
१५—मकर
१६—सर्पशीर्ष
१७—मुकुल
१८—मुद्रा
१९—कटकामुख
२०—पल्लव
२१—कटका
२२—वर्धमान
२३—अंजलि
२४—ऊर्णनाभ
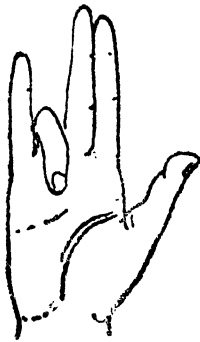
१. पताका

२. त्रिपताका

३. कर्तरिमुख

४. अर्धचन्द्र
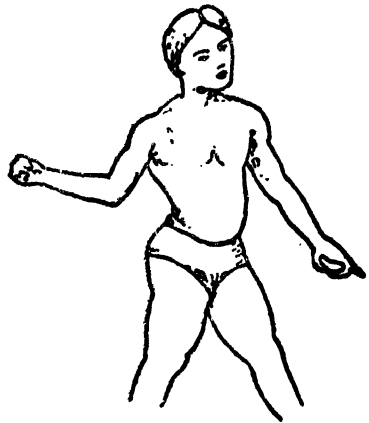
५. अराल

६. शुकतुन्ड ७. सूचीमुख ८. मृगशीर्ष
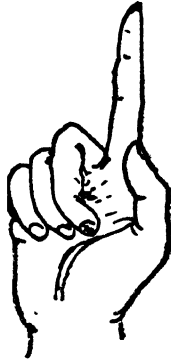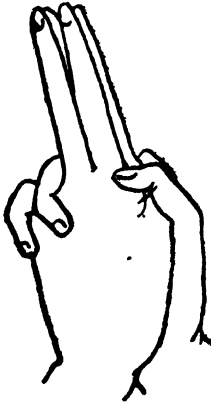
९. हंसास्य १०. मुष्टि
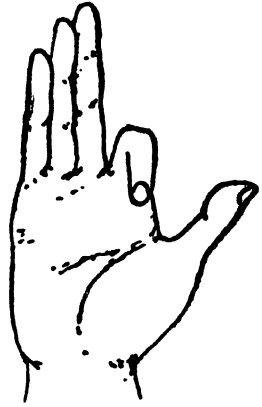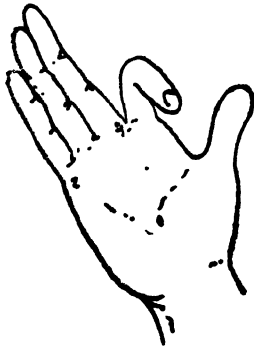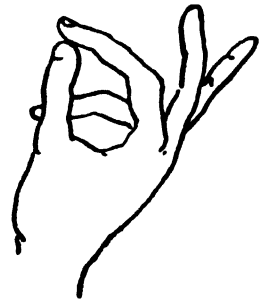
११. शिखर

१२. कपित्थ

१३. भ्रमर

१४. हंसपक्ष

१५. मकर

१६. सर्पशीर्ष

१७. मुकुल

१८. मुद्रा

१९. कटकमुख

२०. पल्लव

२१. कटक

२२. वर्धमान

२३. अंजलि

२४. ऊर्णनाभ
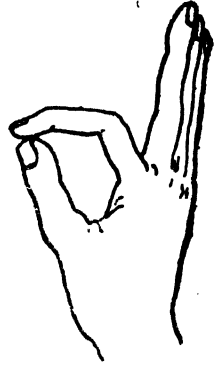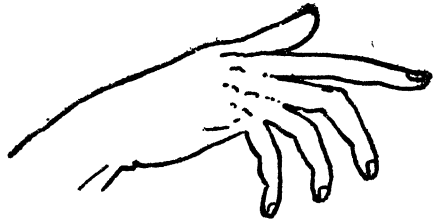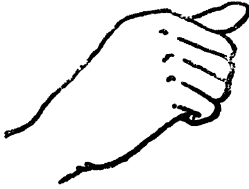
उपरोक्त चौबीसों एकाकी (एक हाथ की) हस्त मुद्राओं का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है:—

(१) **पताका**—हाथ को पूरा फैलाकर अंगुलियां खड़ी रखी जाती हैं। केवल अनामिका उङ्गली हथेली की ओर मोड़ी जाती है (भरत के अनुसार सभी अंगुलियां खड़ी रहती हैं) अंगूठा सीधा रखा जाता है । शरीर की विभिन्न स्थितियों के साथ पताका का अर्थ होता है:—

[अ] एक हाथ से—दिन, भ्रमण, जीभ, पेशानी, शरीर, इसी प्रकार या, और, सन्देशवाहक, रेतीला, अंकुरित ।

[ब] दो हाथों से—सूर्य, बादशाह, गज, सिंह, सांड, मगरमच्छ, मेहराब, बेल, झंडा, लहर, गली, पाताल, भूमि, नितम्ब, पात्र, प्रासाद, संध्या, दोपहर, बादल, चींटीदल, जंघा, सेवक, पांव, चक्र, आसन, विद्युत, प्रहार, नगर का प्रवेशद्वार, गाड़ी, नम्र, टेड़ामेड़ा, बदमाश, द्वार, तकिया, लोहे का हत्था, सतह, पांव सम्बन्धी तथा सांकल ।

नृत्य शास्त्रों के अनुसार पताका ब्रह्मा द्वारा चलाई गई । यह विजय का प्रतीक समझी जाती है । इस मुद्रा का विकास झन्डे से ही हुआ है [चित्र देखें] । दक्षिण के प्राचीन चित्रों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में 'V' के आकार की पताका फहराई जाती थी । इसमें V के ऊपर का भाग ईश्वर का प्रतीक और पेंदा धरती माना जाता था और

इससे 'सुरक्षा' का बोध होता था। वैदिक विवाहों में पति-पत्नी के हाथ जिस समय जुड़ जाते हैं तो पति का हाथ यही V बनाता है, जिसमें कि जीवन भर सुरक्षा का आश्वासन निहित होता है। देश के कुछ दूरस्थ भागों में अवस्थित प्राचीन मन्दिरों में अब तक V के आकार की पताकाएँ पाई जाती हैं।

(२) **त्रिपताका**—सभी अँगुलियों को फैलाकर अँगूठे को अन्दर की ओर थोड़ा सा इस प्रकार मोड़ा जाता है कि वह प्रथम उँगली को छूता है। यह मुद्रा एकाकी नहीं होती। दोनों हाथों से इसका अर्थ होता है: सूर्यास्त, प्रारम्भ, कहिये! पेय, शरीर, याचना।

(३) **कर्तरीमुख**—प्रथम व बीच की उँगली को सीधा रखा जाता है, शेष दोनों अँगुलियां भीतर की ओर मोड़ ली जाती हैं। अँगूठा तीसरी उँगली पर रहता है। अर्थ:—

[अ] दोनों हाथों से: पाप, क्षान्ति, ब्राह्मण, यश, घड़ा, भवन, धार्मिक प्रतिज्ञा, पवित्रता, खेत की बाढ़, कुल, बाँस, भूख, श्रवण, बोलना, जत्था, अन्त तथा शिकार।

[ब] एक हाथ से: यद्यपि, शब्द, समय, क्रम, हम, पुरुष, मुंह, वैमनस्य, लड़का, नेवला।

(४) **अर्धचन्द्र**—अँगूठा तथा प्रथम उँगली को सीधा रखकर शेष अँगुलियां अन्दर की ओर थोड़ी मोड़ ली जाती हैं। अर्थ:—

[अ] दोनों हाथों से : यदि, क्यों ? असहायता, आकाश, आशीर्वाद प्राप्त पुरुष, ईश्वर, स्मृति, घास, पुरुष के बाल ।

[ब] एक हाथ से : प्रारम्भ, मुस्कान, क्या ?, आत्म प्रशंसा ।

(५) अराल—इसकी स्थिति चित्र से भलीभांति समझी जा सकती है। यह मुद्रा दोनों हाथों से ही बनाई जाती है और इसका अर्थ होता है : आलस्यपूर्ण, वृक्ष, कली, पौध ।

(६) शुकतुण्ड—प्रथम उँगली को उठाकर ऊपर का हिस्सा मोड़ लिया जाता है; शेष तीनों अँगुलियाँ हथेली की ओर इस प्रकार मोड़ी जाती हैं कि अँगूठा बीच की उँगली को छूता रहे। यह भी दोनों हाथों से प्रदर्शित की जाती है और इसका अर्थ होता है : हाथ, अंकुश, पक्षी ।

(७) सूचीमुख—इंगित करने वाली उँगली को कहते हैं। अर्थ है:—

[अ] दोनों हाथों से : टूटा हुआ, कूदता हुआ, ऊपर की ओर, शब्द, लक्ष्मण, गिरना, मुँह, कहीं और, भौंह, ढीला, पूँछ ।

[ब] एक हाथ से : आह ! फीका, दूसरा, बहुवचन, सुनना, चन्द्रमा की तिथि, प्राचीन, यही, राज्य, छोटा, साक्षी, छोड़ना, तू आ, तू जा, लड़ाई ।

(८) मृगशीर्ष—बीच की तथा तीसरी उँगली को अन्दर की ओर इस प्रकार मोड़ा जाता है कि बीच की उँगली अँगूठे के सिरे को

छूती हैं। प्रथम तथा अन्तिम उँगली को सीधा फैलाया जाता है। इसे एक ही हाथ से प्रदर्शित किया जाता है तथा इससे हिरण और सर्व शक्तिमान का बोध होता है।

(९) **हंसास्य**—चित्र के अनुसार दोनों हाथों को फैलाकर एक दूसरे से मिलाया जाता है। अर्थ:—

[अ] दोनों हाथों से : आंखों की पुतली, नरम, रेत, पीला, श्वेत, नीला, लाल, दया, पेट पर बालों की रेखा।

[ब] एक हाथ से : प्रथम वर्षा, केश, पेट पर बालों की रेखा, स्त्रियों की नाभि के ऊपर की त्वचा की तीन परतें।

(१०) **मुष्टि**—अँगूठे को पहली, दूसरी या दूसरी और तीसरी अँगुलियों के बीच रखकर सारी अँगुलियां बन्द कर ली जाती हैं। इससे निम्नांकित का आभास होता है:—

[अ] दोनों हाथों से रथ चालक, उपसर्ग, प्रेमपूर्ण, पवित्रता, मुक्तात्मा, कारावास, योग्य, जीवन, टखना या एड़ी, आकर्षण, बावड़ी, यम, मद, औषधि, श्राप, झूला, उपहार, त्याग, खुदाई, भाला, शौर्य-पराक्रम, सूर्य या अग्नि, वमन, जन्म देना, शूद्र, यक्ष, छड़ी, कमान, उपहार, लड़ाई, शक्ति, सौन्दर्य, गायन, नकारात्मक।

[ब] एक हाथ से : व्यर्थ, अत्यधिक, धिक्कार, मन्त्री, सहनशील, स्वीकृति–आज्ञा, उपहार, विजय, कमान, द्रुम, एक वाक्य, वृद्धावस्था, लूट और भोजन ।

(११) शिखर—प्रथम अँगुली खड़ी रहती है; शेष अँगुलियां हथेली की ओर मोड़ ली जाती हैं और अँगूठा बीच की उँगली पर रहता है। यह भी दोनों हाथों से बनती है और इसका अर्थ होता है : घूमते हुए, पांव, आंखें, दृष्टि, मार्ग, खोज, कान, पेय, हाथ, आश्चर्य, समय, पहिये ।

(१२) कपित्थ—प्रथम उँगली व अँगूठा एक दूसरे के ऊपरी छोर को छूते हैं; शेष अँगुलियां फैली रहती हैं। यह दोनों हाथों की संयुक्त–मुद्रा है । अर्थ : लगाम या जाल, संशय, मयूर पंख, पेय, छूना, लौटना, बाहर, पीछे, उतरते हुए, कदम ।

(१३) भ्रमर—प्रथम उँगली को भीतर मोड़कर झुका लिया जाता है, शेष अँगुलियां तथा अँगूठा फैले रहते हैं। संकेत:—

[अ] दोनों हाथों से : पंख, गीत, जल, छतरी, हाथी का कान ।

[ब] एक हाथ से : गन्धर्व, जन्म, भय, रोना।

(१४) हंसपक्ष—हाथों को पूरा फैलाकर प्रथम उँगली को अँगूठे की ओर थोडा मोड़कर झुका लिया जाता है। संकेत:—

[अ] दोनों हाथों से : चन्द्रमा, कामदेव, पवन, देव, पर्वत,

शिखर, चिरस्थाई, सम्बन्ध, बिछौना, चट्टान, आनन्द, कुच, वस्त्र, सवारी, मिथ्या, लेटना, गिरना, लोग, पीटना, ढकना, फैलना, स्थापना करना, आना, झुककर अभिवादन करना, स्नान, चंदन का उबटन, आलिंगन, अनुसरण करना, रक्षा करना पढ़ना, भारी गदा, कपोल, कन्धा, केश, आज्ञाकारी, आशीर्वाद, साधु, इस प्रकार, मछली, पूजा, कछुआ।

[ब] एक हाथ से—तुम, तलवार, कोप, अभी, मैं, सामने, कुल्हाड़ी, लौ, पुकार, गोद में चढ़ना और रोकना।

(१५) **मकर**--प्रथम उंगली अँगूठे के सिरे को छूती है, बीच की उँगली अँगूठे के निचले भाग को छूती है और शेष दोनों अँगुलियां अलग-अलग फैला दी जाती हैं।

[अ] दोनों हाथों से---हाथी दांत, विछोह, टखने से लेकर घुटने तक पैर का हिस्सा, स्त्री के नितम्ब, वेद, भाई, स्तम्भ, गारा, तेज, पिशाच, शारीरिक बाढ़।

[ब] एक हाथ से—शत्रु, भुनगा, किरण, क्रोध, गरदन, उत्तम, चूड़ी, बाजूबन्द, नकारात्मक।

(१६) **सर्प शीर्ष**—अँगूठा प्रथम उँगली को छूता है; सभी अँगुलियां भीतर की ओर थोड़ी सी झुकाली जाती हैं। दोनों हाथ या एक हाथ की इस मुद्रा का अर्थ है—चन्दन का उबटन, सर्प,

धीरे, छिड़कना, याद रखना, ईश्वर को जल चढ़ाना, साधू, हाथी का कान हिलाना, पहलवानों की मालिश।

(१७) **मुकुल**—सर्पशीर्ष की ही भांति हाथ की स्थिति, केवल अँगूठे व प्रथम उँगली के सिरे छूते रहते हैं। एक या दोनों हाथों की इस मुद्रा के संकेत हैं—गीदड़, बन्दर, धुँधला होना और विस्मृति।

(१८) **मुद्रा**—इस मुद्रा में प्रथम उँगली और अँगूठा गोलाकार रहकर एक दूसरे के छोर छूते हैं; शेष सभी अँगुलियां फैली रहती हैं। इससे जिन वस्तुओं का बोध होता है, वे हैं:—

[अ] **दोनों हाथों से**—विकास, क्रिया, स्वर्ग, समुद्र, घना, विस्मृत, सब, घोषणा, वस्तु, मृत्यु, विचार, जनेऊ, सीधा।

[ब] **एक हाथ से**—ब्रह्मा, वेद, वृक्ष, आकाश, श्रृंखला, चावल, हृदय, ध्यान, श्रुति, स्नेह, राक्षस, विचार, इच्छा, स्वयं, स्मृति, ज्ञान, सृष्टि, जीवन, स्वर्ग, समानता, अपयश, भविष्य, नकारात्मक और चतुर्थ।

(१९) **कटका मुख**—प्रथम व बीच की उँगली को हथेली की ओर मोड़ लिया जाता है, अँगूठा प्रथम उँगली के सिरे को छूता है, शेष दोनों अँगुलियों को अलग करके फैला दिया जाता है। दोनों हाथों की इस मुद्रा का भावार्थ है—रंग करना, सेवक, वीर, मल्ल, तीर चलाना, जंगल।

(२०) **पल्लव**—चित्र देखें। **अर्थ**—

[अ] दोनों हाथों से—वज्र, पर्वत शिखर, गाय के कान, आँखों की लम्बाई, भैंस, लौह-हत्या, भाला, तुरही, घूमता हुआ।

[ब] एक हाथ से—दूरी, पत्ती, धुँआ, पूँछ, रतन, धान।

(२१) **कटका**—प्रथम तथा मध्यमा उंगली को इस प्रकार मोड़ा जाता है कि मध्यमा उंगली के छोर यहीं मिलते हैं। शेष दोनों अँगुलियां फैली रहती हैं। यह वार्तालाप या प्रश्न का संकेत है, इसके सामान्य अर्थ हैं:—

[अ] दोनों हाथों से—विष्णु, कृष्ण, बलभद्र, तीर, स्वर्ण, चाँदी, चुड़ैल, निद्रा, प्रतिष्ठित महिला, श्री या धन, वीणा, नक्षत्र, पुष्पहार, कमल, प्रेत, मुकुट, लौह छड़, विशिष्ट, साथ, रथ।

[ब] एक हाथ से—पुष्प, दर्पण, स्त्री, होम, स्वेद कण, छोटा, कौन, क्या, कौनसा, कम्पन, सुरभि (महक)।

(२२) **वर्धमान**—सब अँगुलियों को मोड़कर हथेली की ओर ले जाया जाता है, अँगूठा बाहर की ओर फैला रहता है। संकेत:—

[अ] एक हाथ से—भँवर, नाभि और कूप।

[ब] दोनों हाथों से—स्त्री के कानों की बाली, मुक्तामाला, घुटना, विचारमग्न साधू, ढोल, महावत।

(२३) **अंजलि**—जब 'त्रिपताका' में हाथों को मोड़ लिया जाता है और उनके किनारे एक दूसरे को छूने लगते हैं तो निम्नलिखित अर्थों के लिये 'अञ्जलि' मुद्रा बनती है—

[अ] दोनों हाथों से—घोर वर्षा, वमन, अग्नि, धारा, शोर, चमक, केश, झुमकी, ताप या व्यथा, गड़बड़ी, सदैव, सरिता, स्नान, पीना, बहना, रक्त ।

[ब] एक हाथ से—घोंघा व क्रोध ।

(२४) **ऊर्णनाभ**—समस्त अँगुलियों व अँगूठे को नीचे की ओर ढीला छोड़ दिया जाता है । दोनों हाथों की इस मुद्रा का अर्थ है-अश्व, फल, चीता, मक्खन, हिम, बाहुल्य, कमल ।

उपरोक्त सभी मुद्राओं की वर्णमाला कथकलि में अभिनय द्वारा की गई अभिव्यक्ति को और भी सम्पूर्ण बना देती है; इससे अभिनय में चार चांद लग जाते हैं ।

———

सातवां अध्याय

मुद्राएँ (दोनों हाथों की 'संयुक्त')

पिछले अध्याय में असंयुक्त मुद्राओं पर प्रकाश डाला गया था। इस अध्याय में, मैं कथकलि की संयुक्त मुद्राओं का वर्णन करूँगा, जो कि संख्या में ४० हैं। इन मुद्राओं को संयुक्त इसलिये कहा गया है कि इनके लिये दोनों हाथों से एक साथ काम लेना होता है। इनके अतिरिक्त हंस व गरुड़ के लिये भिन्न मुद्रा हैं। गरुड़ मुद्रा की खुली अँगुलियां बन्द करली जांय और बन्द अँगुलियां खोल दी जाँय (चित्र देखें) तो मोर के लक्षण प्रकट होते हैं। इसी प्रकार कछुये के लिये भी अँगुलियों की भिन्न स्थिति होती है। (चित्र देखें)

संयुक्त मुद्रायें

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कथकलि में प्रयुक्त ४० संयुक्त मुद्राओं की व्युत्पत्ति किस प्रकार हुई और वे विशेष संकेतों के ही लिये क्यों काम में लाई जाती हैं; किन्तु यह सर्वमान्य है कि जिस समय कोई निपुण कलाकार अपने नृत्याभिनय में इन्हें प्रस्तुत करता है तो उसके अभिनय का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

अंजलि कटका—दोनों हाथों द्वारा क्रम से अञ्जलि व कटक मुद्राएँ बनाने से यज्ञ का अर्थ बताती है।

अर्धचन्द्र-मुष्टि—में भी अर्धचन्द्र व मुष्टि का समावेश होता है। इससे चन्द्रमा का आकाश के मध्य में होना बताया जाता है।

हंसस्य-मुष्टि—इससे प्रेमी या प्रेम–भाजन का ग्राभास होता है ।

हंसपक्ष-पताका—का ग्रर्थ है 'मस्तिष्क को सुहावना लगने वाला ।'

हंसपक्ष-मुष्टि—से यक्ष का बोध होता है ।

हंसस्य-पताका—द्वारा काव्य का संकेत किया जाता है ।

हंसपक्ष—को दोनों हाथों से दर्शा कर हनुमान, बन्दर ग्रादि का बोध कराया जाता है ।

कटका—के सभी परिवर्तित रूपों से स्त्रीत्व का संकेत किया जाता है ।

कर्तरीमुख-मुद्रा—इससे पौत्र के पुत्र का संकेत किया जाता है ।

कर्तरीमुख-मुष्टि—का प्रयोग विशेष रूप से 'विद्याधर' के लिये किया जाता है ।

कर्तरीमुख-कटका—से 'विज्ञान' का भान होता है ।

कटका हंसपक्ष—के द्वारा मां या प्रतीक्षा करने वाले को दर्शाया जाता है ।

कटका-मुष्टि—इसमें वैधव्य, सहवास, लड़ाई, श्रीराम, व स्त्री के गुणों के लक्षण होते हैं ।

कटका-सूचीमुख—से पुत्री का संकेत किया जाता है ।

कटका-मुद्रा—सत्य एवं धर्म का प्रतीक होता है ।

कटका-मुकुर—सुन्दर स्त्री के लिए प्रयोग की जाती है ।

कर्तरी-कटाका—से कुँवारी कन्या का बोध होता है ।

मृगशीर्ष-हंसपक्ष—शिव व नटराज के लिए उपयोग की जाती है।

मुद्रा-पताका—किसी 'चिन्ह' का प्रतीक होता है।

मुद्रा-मुष्टि—से पिता व सेनापति का लक्षण प्रकट होता है।

मुकुल-मुष्टि—द्वारा पत्नी, विवाह तथा करने योग्य कार्य का बोध होता है।

मुकुल—(परिवर्तित) कलिका तथा अन्त का आभास होता है।

मुद्र-पल्लव—से कष्ट साध्य का संकेत मिलता है।

मुष्टि—(परिवर्तित) से संहार–विनाश का बोध होता है।

पल्लव-मुष्टि—से हाथ का संकेत किया जाता है।

पताकांजलि—मुद्रा क्रीड़ा के लिये प्रयुक्त होती है।

पताका हंसपक्ष—सृष्टि के देवता ब्रह्मा का प्रतीक है।

पताका-कर्तरीमुख—से 'राजकुमार' का अर्थ लगाया जाता है।

पताका कटका—से निवास स्थान व गऊ का बोध होता है।

पताका-मुष्टि—द्वारा बाधा या हत्या का संकेत किया जाता है।

पताका-मुकुल—द्वारा रामायण के वीर पात्र सुग्रीव, बाली व अंगद का भान कराया जाता है।

पताका-कर्तरीमुख—नगर या लंकाधिपति रावण के लिये प्रयुक्त होता है।

शिखर—(परिवर्तित) से रामायण के गरुण का संकेत किया जाता है।

शिखर-मुष्टि—देवाधिदेव इन्द्र का प्रतीक है।

शिखर-अंजलि—द्वारा श्री वत्स का बोध होता है।

शिखर हंसपक्ष—में 'मध्यवर्त्ती मार्ग' का लक्षण होता है।

सूचीमुख-अंजलि—'चित्र' संकेत के लिये।

वर्धमान-अंजलि—से बहुमूल्य हीरों का भान होता है।

वर्धमान-हंसपक्ष—द्वारा अमृत का संकेत किया जाता है।

वर्धमान हंसस्य—से निचले होंठ का संकेत किया जाता है।

उपरोक्त वर्णन में यह स्पष्ट दिखाया गया है कि एक मुद्रा भिन्न-भिन्न अर्थों के संकेत में प्रयुक्त होती है, अतः उसका अर्थ शारीरिक स्थिति, संगीत व कथानक के रस और घटना चक्र पर भी निर्भर रहता है। नृत्य के समय ठीक मुद्रा का उपयोग करना योग्य शिक्षक से ही सीखा जा सकता है। जहां तक इस छोटी सी पुस्तक या अन्य पुस्तकों का सम्बन्ध है, उनमें केवल मुद्राओं का वर्णन व भावार्थ ही दिया जा सकता है। नृत्य के सन्दर्भ में उनका उपयोग शिक्षार्थी को गुरु से ही सीखना होगा।

अन्त में एकबार फिर मैं स्मरण करा दूं कि मुद्राओं पर रस तथा भावों का पूर्ण आधिपत्य रहता है। भरत ने भी इस तथ्य पर बल दिया है।

आठवां अध्याय

कथकलि में सौन्दर्य प्रधान भाव व भावनाएँ

प्रत्येक मुद्रा की भूमिका में कोई न कोई 'भाव' तथा 'रस' अवश्य होता है। भरत के अनुसार रस आठ प्रकार के होते हैं। [नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, श्लोक १५]* किन्तु हिन्दू नर्तनकला के प्रख्यात विद्वान तथा भरत रचित ग्रन्थों के टीकाकार अभिनव गुप्त ने रस नौ माने हैं; नवां रस 'शांत' होता है। अभिवन गुप्त के इस मत का समर्थन करते हुए श्री शार्ङ्गदेव ने यह तथ्य 'संगीत रत्नाकर' में भी उद्घृत किया है।

सामान्य तौर पर देखने से प्रतीत होता है कि 'शान्त' रस का नाट्य अथवा अभिनय से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि शान्त का अर्थ है सांसारिक क्रियाओं से विरक्त, शांतिपूर्ण, भक्ति में दत्त चित्त, अतः नृत्यों में यह रस प्रायः प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु कथकलि में इसका भी समावेश किया गया है, जिससे कहीं इस रस का अन्त न हो जाय। कथकलि में शांत रस प्रदर्शन के लिये आंखों को सिकोड़कर ठोडी सहित ऊपर उठाया जाता है और चेहरे तथा गरदन को नीचे लटका दिया जाता है।

संस्कृत ग्रंथों में आठ रसों का उल्लेख मिलता है—श्रंगार, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स और अद्भुत।

---

* शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ —नाट्यशास्त्र

श्रृंगार—इसमें यौन भावनाओं की प्रधानता रहती है। यही इस सृष्टि का मूल है। इसी के लिये स्त्री-पुरुष की रचना हुई है। इसके भावों की अभिव्यक्ति भँवों, आंखों, होठों, कपोलों व हाथ की सुन्दर मुद्राओं द्वारा होती है। यह **'लास्य'** नामक नृत्य की तो प्रेरणा ही है। 'लास्य' एक प्रकार का प्रेम सम्बन्धी नृत्य है, जिसे स्त्रियां प्रस्तुत करती हैं।

हास्य—हँसी दिलाने वाली मुद्राओं से किसी पात्र की खिल्ली उड़ाने से हास्यरस की सृष्टि होती है। हास्य के लिए भँवों को धनुषाकार बनाने के अतिरिक्त आंखों को जल्दी-जल्दी झपकाया जाता है और गर्दन तथा शिर को झटके दिए जाते हैं।

करुणा—यह रस विषाद का प्रतीक है। इसका प्रदर्शन आंखों को कोने में चढ़ा दोनों हाथों से अञ्जलि मुद्रा बनाकर होता है। शोक को करुण रस में ही गिना जाता है, किन्तु शोक-भाव के लिये प्रथक से जो मुद्रा बनाई जाती है, उसमें आंखें सिकोड़ कर होंठ नीचे झुका दिये जाते हैं। होंठ जब-तब हिलते भी रहते हैं।

रौद्र—यह अत्यधिक क्रोध व निर्दयता का रस है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए आंखों को फैलाकर अग्नेय नेत्रों से बेधने वाली दृष्टि डाली जाती है। दांत पीसने के साथ ही कपोल भी कम्पित रखे जाते हैं।

भयानक—आंखों को पूरा खोलकर पुतलियों को बारम्बार इधर-उधर घुमाने से 'भयानक रस' का बोध होता है। इस भंगिमा में

शिर व गर्दन भी हिलाये जाते हैं और दोनों हाथों को मोड़कर वक्ष पर रख लिया जाता है।

वीर—शौर्य, पराक्रम आदि इसी रस के अन्तर्गत आते हैं। इसकी अभिव्यक्ति के लिये आँखों को फैलाकर भँवें धनुषाकार बनादी जाती हैं और शिर को गर्व के साथ उठाये रखा जाता है।

वीभत्स—घृणा व कुरूपिता का परिचायक है। यह रस दर्शाने के लिये चेहरा विचित्र रूप से परिवर्तित किया जाता है। आँखों और भँवों को सिकोड़कर हाथ इस प्रकार फैलाये जाते हैं कि हथेलियाँ दर्शकों की ओर रहें। वक्ष को भी कुछ संकुचित कर लिया जाता है।

अद्भुत—आश्चर्य का भान कराता है। यह भँवों को कम्पित करने तथा शिर व गर्दन को हिलाने से व्यक्त होता है। आंखें भी साथ-साथ चलती हैं और होंठ कुछ बाहर की ओर निकाल लिये जाते हैं।

नृत्याभिनय के समय 'भाव' 'रसों' की अभिव्यक्ति को पूर्ण बनाते हैं। इस प्रकार जिस रस का प्रदर्शन करना हो, वैसी ही भावनायें चित्रित की जाती हैं।

भाव दो प्रकार से व्यक्त किए जाते हैं:—'शरीर' से व 'मन' से।

यदि शरीर सम्बन्धी हों तो **सात्विक**, मस्तिष्क सम्बन्धी हों तो **मानसिक** और शरीर की किसी क्रिया के द्योतक हों तो **शारीरिक** कहलाते हैं।

उदाहरण—**सात्विक**–स्वेद, **मानसिक**–पागलपन, **शारीरिक**–कोई चीज उठाने की क्रिया ।

सात्विक व शारीरिक भावों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । जब अङ्ग संचालन द्वारा कोई क्रिया की जाती है तो उससे सम्बन्धित भावनाएँ **सात्विक** होती हैं । गतिशून्य एक ऐसी स्थिति है जो अङ्गों को अचल रखने से उत्पन्न होती है । यहां गतिशून्य को हम **सात्विकभाव** कहेंगे तो अङ्गों की अचलता **शारीरिक भाव** है ।

एक और उदाहरण प्रस्तुत है—एक पत्थर उठाया जाता है । यह क्रिया **शारीरिक** हुई, किन्तु प्रश्न यह है कि पत्थर क्यों उठाया गया ? अभिनय द्वारा इस शंका का समाधान करते हुए यह बताया जाता है कि पात्र ने क्रोधावेश में पत्थर उठाया । इस प्रकार यह **'रौद्ररस'** हुआ । अब पत्थर फेंका जाता है । फेंकने की क्रिया में अभिनेता कांपता है । यहां पत्थर उठाने व फेंकने की क्रियाएँ **शारीरिक भाव** के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु फेंकने की क्रिया के परिणाम स्वरूप शरीर में उत्पन्न हुआ कम्पन **'सात्विक भाव'** होगा ।

'सात्विक भाव' का इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है:—

स्तम्भ (अचल), स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, विवर्ण (भावातिरेक से चेहरे का रंग बदलना), रुद्रण, प्रलय व यमई (जम्हाई) ।

क्रिया को करने की आज्ञा मस्तिष्क ही देता है । क्रिया क्या थी और उसे क्यों किया गया ? ये मस्तिष्क से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हैं,

अतः इन्हें **'मानसिक भाव'** में माना जाता है। **'स्थाई भाव'** (मुख्य) व **'संचारी-भाव'** (सहायक) मिलकर मानसिक भाव बनाते हैं। मुख्य भाव के उदय होने का कारण 'विभव' तथा मुख्य भाव की प्रेरणा से की गई क्रिया को अनुभव कहते हैं।

उल्लिखित भावों व रसों को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए महाभारत से यह उदाहरण प्रस्तुत है:—

"पाण्डवों के शत्रु कौरवों ने कुचक्र से अर्जुन के पुत्र अभिमन्यू को मार दिया। अर्जुन ने जो यह सुना तो क्रोध से उसकी आंखें लाल हो गईं और बाहें फड़क उठीं। इसी समय भूमि पर पड़े हुए अभिमन्यू को जयद्रथ पग प्रहार द्वारा अपमानित कर रहा था। अर्जुन को इसका पता चलते ही वह आपे से बाहर हो गया।"

उपरोक्त उदाहरण में मुख्य भाव अर्जुन का क्रोध है। यह **'स्थाई-भाव'** हुआ; इस क्रोध का कारण अभिमन्यू—वध है, अतः वह **'विभाव'** होगा; क्रोध के कारण अर्जुन की आंखें लाल हो जाती हैं, भुजायें फड़कने लगती हैं और वह युद्ध की तैयारी करता है—यह **'अनुभाव'** का दृष्टान्त है, अन्त में मुख्य भाव के साथ जो अतिरिक्त क्रोध, आता है उसका कारण जयद्रथ द्वारा वीर अभिमन्यू का अपमान है, जोकि संचारी भाव हुआ। इन चारों भावों से 'रौद्ररस' की सृष्टि होती है।

यह देखा गया है कि प्रायः मुख्य भाव ही रस—विशेष का परिचायक होता है। स्थाई-भाव द्वारा जो प्रभाव डालने का प्रयास किया जाता है,

'रस' उसी का उपसंहार है। इस प्रकार प्रत्येक स्थाई भाव के लिए एक निश्चित रस होता है, जैसा कि निम्नांकित तालिका में ब्योरेवार बताया गया है:—

स्थाई भाव	रस
१. रति	शृङ्गार
२. हास्य	हास्य
३. शोक	करुण
४. क्रोध	रौद्र
५. उत्साह	वीर
६. भय	भयानक
७. जुजुप्सा	वीभत्स
८. आश्चर्य	अद्भुत
९. सम	शान्त

'विभाव' **'स्थाई भाव'** को एक निश्चित स्वरूप देता है। **'विभाव'** के भी दो अङ्ग माने गये हैं; **आलम्बन**—मुख्य स्वरूप तथा सहायक—**उद्दीपन**। उदाहरणार्थ शृङ्गार रस में **'विभाव'** का मुख्य स्वरूप **'आलम्बन'** नायक या नायिका को माना गया है, जब कि **'उद्दीपन'** एकान्तवास या चांदनी से होता है।

'उद्दीपन' के भी चार अङ्ग माने गये हैं—गुण, चेष्टा,

(महत्वाकांक्षा), अलंकार (वेषभूषा),व तटस्त (प्राकृतिक सौन्दर्य की चरम सीमा)।

नायक–नायिका का **गुण** (श्रंगार रस का **आलम्बन–विभाव**) उनकी यौवनावस्था है, **चेष्टा** (महत्वाकांक्षा) सहवास की कामना है, **अलंकार** उनके वस्त्राभूषण हैं, और **तटस्त** पूर्णचन्द्र, मलय समीर आदि ।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मनुष्य के **'स्वाभाविक'** भावों का भी उल्लेख किया गया है । जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के मन को विभिन्न परिस्थितियों में प्रभावित करने वाले ३३ **स्वाभाविक** भाव माने गये हैं:—

स्मृति, आलस्य, शंका, चिंता, श्रम, ग्लानि, निद्रा, मोह, मद, निर्वेद, असूय, दैन्य (दानवृत्ति), **जदत** (ज़िद), **द्रति, व्रिद** (प्रगति), **गर्व, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, हर्ष, चपलता, अपस्मार, सुप्ति, विबोध, वितर्क, अमर्श, अवहित, मति, उग्रता, उन्माद, तृष्णा, व्याधि और मरण ।**

इन भावों को 'स्वाभाविक' की संज्ञा इसलिये दी गई है कि ये मनुष्य के प्राकृतिक व्यवहार एवं चेतना से अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं । मनुष्य अपने जीवन में इन भावों का अनुभव करता ही रहता है ।

स्वांग–अभिनय में अर्थ पूर्ण मुद्राओं के लिये 'रस' और रस दर्शाने के लिये विभिन्न भावों को व्यक्त किया जाता है । कथकलि कलाकार

अपनी कला का प्रदर्शन करते समय सब कुछ भूलकर केवल यही प्रयत्न करता है कि जिस पात्र की भूमिका में वह अवतरित हुआ है, उसमें अधिक से अधिक यथार्थता ला सके, ताकि एक कल्पना को साकार किया जा सके। यह चरित्र चित्रण स्वांग प्रधान होता है, किन्तु इसे इतना सजीव बना दिया जाता है कि दर्शक इसकी 'भाषा' भली भांति समझ सकें।
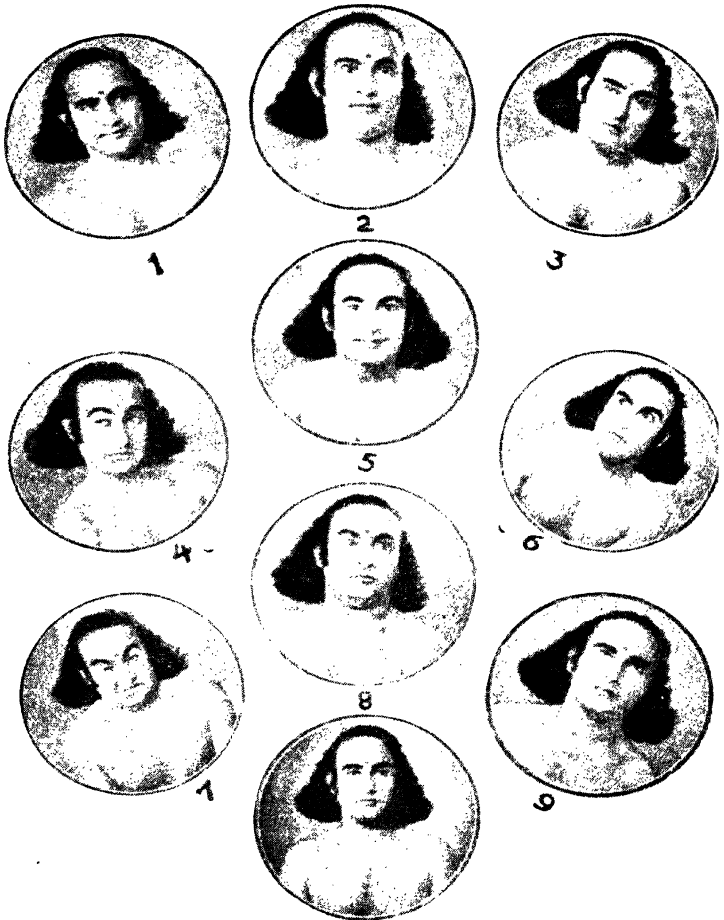
रस—(१) श्रृंगार (२) वीर (३) करुणा (४) हास्य (५) अद्भुत
(६) भयंकर (७) वीभत्स (८) रुद्र (९) शान्त (१०) प्राकृतिक

नवां अध्याय

पोशाक व शृङ्गार

कथकलि में पोशाक व श्रंगार का अपना कलात्मक महत्व होता है। कलाकारों का श्रंगार करने वाले अपने कार्य में काफी दक्ष हो चुके हैं। हालांकि अधिकांश श्रंगार पुरानी परिपाटी का तथा विचित्र होता है, फिर भी यह अनिवार्य माना गया है, क्यों कि इससे नृत्याभिनय अधिक सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनता है। दर्शकों को सजावट में मलयालम प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है, किन्तु कुछ शीश मुकुट तथा पोशाकों पर तिब्बती (लामाओं का 'दैत्य नृत्य') प्रभाव दिखाई पड़ता है। श्री-आर० वी० पोडवल ने 'कथकलि कला' में लिखा है कि "कथकलि के महिला पात्र मलाबार की 'मोप्ला' स्त्रियों से मिलते हैं और उनकी भूमिकाओं पर मुस्लिम प्रभाव निश्चित रूप से मालूम पड़ता है।" अन्य समालोचकों ने भी इस मत का समर्थन किया है, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि कथकलि की अधिकांश पोशाकें व श्रंगार मलाबार के मन्दिरों में अङ्कित भित्ति चित्रों तथा स्थानीय लोकनृत्यों से लिये गये हैं।

एक दंत कथा के अनुसार कोट्टारक्कारा नरेश ने जब कथकलि पात्रों के बारे में सोचना आरम्भ किया तो उन्हें समुद्री-अप्सराएँ दिखाई दीं, जिनके स्वरूप की नकल उन्होंने लेली। यही स्वरूप कथकलि-स्त्री-पात्रों की भूमिका में अब तक उतारा जाता है।

कथकलि की पोशाक धारण करते समय अस्सी से भी अधिक गाँठें (वस्त्रों में) लगानी पड़ती हैं। मुख्यत: लाल, हरा, पीला, श्वेत और काला—ये पांच रंग श्रंगार के लिये काम में लाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न पात्रों के श्रंगार में इनका उपयोग पूर्व-निश्चित होता है।

चेहरे का श्रंगार इस प्रकार किया जाता है कि उससे **शोभा, कांति, दीप्ति, व माधुर्य** का अपूर्व आभास मिलता है। चेहरे के श्रंगार मे ही उन भावनाओं व चित्त-आवेगों की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है, जो कि विशेष भूमिकाओं से अभिन्न मानी गई हैं।

शिर पर धारण किये जाने वाले मुकुटादि भारी किन्तु भव्य और सावधानी से निर्मित होते हैं

स्त्री पात्रों की साज-सज्जा अपेक्षाकृत साधारण होती है।

पहले पहल कथकलि में कृष्णाट्टम की पोशाकों की नकल की जाती थी। उस समय शिर पर कुछ धारण करने का चलन नहीं था, केवल चेहरे पर बड़े-बड़े नकाब पहने जाते थे। नकाब पहन कर कलाकार रामायण के विभिन्न पात्रों की भूमिकाओं में अवतरित होते थे।

परिवर्तन-काल तब आरम्भ हुआ जब वेत्तत स्वरूपम् के राजकुमार ने इसलिये नकाब अस्वीकार कर दिये कि इनसे चेहरे की भाव अभि-व्यक्ति का कोई महत्व नहीं रह जाता था। अब कलाकारों ने शीश मुकुट तथा दूसरे प्रकार की पोशाकें धारण करना शुरू किया। इससे पहले

गायक-वादक ही अभिनेता हुआ करते थे, किन्तु यहाँ से गायक व वाद्य यन्त्र बजाने वालों को प्रथक कर दिया गया, ताकि मंच पर अवतरित कलाकार केवल अभिनय ही करे और एकाग्रता पूर्वक अपनी भूमिका को अधिक सजीव व यथार्थ बना सके। अब कथकलि का विकासकाल आरम्भ हुआ और यह कला प्रगति पथ पर अग्रसर हुई।

कथकलि कलाकार चूड़ियां, पायल, हार, बाजूबन्द आदि आभूषण भी धारण करते हैं। साधू और ऋषी साधरण व थोड़े वस्त्र पहनते हैं; शेष पात्र काफी घेरदार इस प्रकार के लँहगे पहनते हैं जो कि कुछ बातों में पाश्चात्य-नृत्य-पोशाकों से मिलते जुलते हैं। राजा, देवता या राक्षसों की भूमिका करने वाले अभिनेता बड़ी विचित्र पोशाकें पहनते हैं। देवताओं का अभिनय करने वाले कलाकारों के लम्बे ढीले वस्त्र तथा विशेष श्रृंगार द्वारा तुरन्त दर्शक यह समझ जाता है कि उसकी आंखें किसी अमानवीय-पात्र को देख रही हैं। देवता वृत्ताकार, खुदाई का काम किया हुआ लकड़ी का शीश-मुकुट पहनते हैं और उनके चेहरे का श्रृंगार नकाब पद्धति पर ही होता है। भवों को रंग से काफी प्रधानता दी जाती है तथा 'चुट्टी' नामक एक श्वेत रेखा चेहरे को कठोरता प्रदान करती है। भिन्न-भिन्न पात्रों के लिये 'चुट्टी' में भी परिवर्तन किया जाता है। साधारणतया यह पेशानी से ठोडी तक बनाई जाती है। इसके लिये चावल का आटा व चूने का मिश्रण काम में लाया जाता है और इसे चेहरे पर चित्रित करने के लिये काफी श्रम करना पड़ता है। पूरे चेहरे के श्रृङ्गार में दो-तीन घण्टे का समय लग जाता है।

कथकलि पात्रों को गुणावगुण की दृष्टि से वर्गीकृत करके **सात्विक, राजसिक व तामसिक** तीन वर्गों में रखा गया है।

(१) **सात्विक**—इस वर्ग में देवताओं, अप्सराओं व धर्मपरायण, पवित्र व्यक्तिओं की भूमिकाएँ आती हैं।

(२) **राजसिक**—दैत्य, खलनायक, दानव, आदि पात्र **राजसिक** कहलाते हैं। इनकी साजसज्जा इन्हें अत्यन्त भयावह तथा उग्र बना देती है। इनके लम्बे–लम्बे काले बाल, पंजों की तरह के नुकीले बड़े–बड़े नाखून, भयानक आंखें और बाहर निकले हुए आगे के दांत दर्शकों के मन में भय का संचार करते हैं, जिससे वे सचमुच के दैत्य दिखाई देने लगते हैं।

(३) **तामसिक**—विनाश करने वाले पात्र इस वर्ग में आते हैं। भयभीत करने वाले तथा बदले की भावना से किये गये कार्य इसी परिधि में आते हैं। शिव के विनाश कार्य इसके उदाहरण हैं।

कथकलि की सारी साज–सज्जा उपरोक्त तीनों वर्गों के हिसाब से बँटी हुई हैं, फिर भी उसमें एकता का स्पष्ट आभास मिलता है।

शृंगार पांच प्रकार का होता है—**मिन्नुकू, पच्छा, काथी, टाडी** और **कारी**।

(१) **मिन्नुकू**—इसमें अभिनेता के चेहरे पर पीले व लाल रंग की शृंगार सामग्री की एक मोटी तह फैलादी जाती है। आँखों व

कथकलि मुकुट और रूप सज्जा। (रावण का शृंगार, सम्मुख दृश्य)

रावण का श्रृंगार इकहरा दृश्य

हनुमान का श्रृंगार

[प्रस्तुत चित्र श्री राजेन्द्रशंकर द्वारा नृत्य-प्रदर्शन के मध्य लिए हुए हैं]

बरौनियों को काले. ग्राइलपेन्ट से रंग दिया जाता है । कभी-कभी चेहरे पर जहां तहां श्वेत विन्दु या अन्य विन्दु भी लगा दिये जाते हैं । आंखों की पुतलियों के श्वेत भाग रक्तवर्ण बनाने के लिये उनमें औषधि डाली जाती है । होठ लाल रगे जाते है तथा मस्तक पर टीका लगाया जाता है । ऋषि तथा. स्त्री पात्र यही श्रंगार करते हैं ।

दूसरे प्रकार का श्रंगार '**टेप्पू**' है—जिसके अन्तर्गत '**पच्छा**' और '**काथी**' दोनों आते हैं ।

(२) **पच्छा**—इसमें मुख मण्डल का अग्र भाग गहरा हरा रंगा जाता है, '**चुट्टी**' जबड़े से ऊपर की ओर जाकर मस्तक पर शीशमुकुट का निचला भाग '**चुट्टीनता**' छूती है । आंखों व बरौनियों पर काला और होठों पर लाल रंग लगाया जाता है । यह श्रंगार कथानक के नायक तथा अन्य महान, पवित्र पात्रों का द्योतक है । राम, कृष्ण, पांचों पाण्डव, इन्द्र, नल, इत्यादि यही श्रंगार करते हैं ।

(३) **काथी**—पच्छा से अधिक श्रमसाध्य है । इसमें लाल तथा हरे रंगों की प्रधानता रहती है । लाल रंग नाक के चारों ओर पेशानी तक और भँवों पर लगाया जाता है; शेष चेहरा हरा रंग दिया जाता है । नाक व पेशानी के चारों ओर 'चुट्टी' रेखा भी बनाई जाती है जिसके '**चुट्टी पुव्वू**' नामक दो खण्ड होते हैं । प्रतिनायक, असुर, रावण, कीचक, आदि को इसी प्रकार सजाया जाता है ।

(४) **टाडी**—में लाल, श्वेत व काले रंगों का प्रयोग किया जाता है । '**वेलुप्प टाडी**' श्वेत किस्म की टाडी होती है जिसमें पात्र के

सफेद दाढ़ी होती है, नासिका के अग्रभाग तथा पेशानी के मध्य में 'चुट्टीपुव्वू' बनाये जाते हैं। चेहरे को पीले और लाल रंगों के सम्मिश्रण से रंग दिया जाता है। 'चुट्टी' की एक हलकी रेखा आंखों के चारों ओर होती हुई 'चुट्टीनता' को छूती है। पच्छा की तरह यह नासिका के चारों ओर नहीं होती। आंखों, होठों व ठोड़ी के चारों ओर काला लेप लगाया जाता है। यह श्रंगार हनुमान तथा योद्धाओं के लिये उपयुक्त होता है।

टाडी की लाल किस्म—'**चोकन्ना टाडी**' में लाल दाढ़ी का प्रयोग किया जाता है। चेहरा भी लाल रंगा जाता है और आंखों, होठों व ठोड़ी के चारों ओर काला लेप लगाया जाता है। दोनों ओर 'चुट्टी' में ठोड़ी से लेकर आंखों तक जहाँ-तहां कागज के छोटे-छोटे टुकड़े इस प्रकार चिपकाये जाते हैं कि वे फहराते रहकर मूछों का बोध कराएँ। इससे चेहरे की कठोरता और भी बढ़ जाती है। यह श्रंगार वानरराज बाली, सुग्रीव, कालकेय, आदि के लिये प्रयुक्त होता है।

(५) **कारी (कन)**—अन्तिम प्रकार के इस श्रंगार में चेहरा काला रंगा जाता है। कपोलों पर मध्य में एक-एक लाल अर्ध चन्द्र होता है। शिव को 'कीरत' (शिकारी) की भूमिका में दिखाने के लिये इस श्रंगार का उपयोग किया जाता है।

इन श्रंगारों के अतिरिक्त एक और भी श्रंगार है, जिसे **निरम** कहा जाता है। यह सूर्पणखां, आदि अंग-भंग पात्रों के लिए प्रयुक्त होता है। विदूषकों का जो हास्यास्पद श्रंगार किया जाता है, उसमें

हास्य की सृष्टि के लिये भाँति–भाँति के रंग चतुराई से प्रयोग किये जाते हैं।

चेहरे पर रंग लगा कर श्रृंगार करना मूलतः आकर्षण बढ़ाने के लिए आरम्भ हुआ, किन्तु आज यह एक संतुलित तथा महत्वपूर्ण कला बन चुका है।

श्रृंगार का रंग हरताल तथा नील को नारियल के तेल में मिला कर तैयार किया जाता है। इन तीनों वस्तुओं को पीसकर उसमें चमक के लिए थोड़ा डामर (Dammar) भी मिलाया जाता है। लाल रंग के लिये सिन्दूर या लाल संखिया चावल के आटे सहित नारियल के तेल में मिलाया जाता है। काजल व नारियल के तेल का सम्मिश्रण काला–लेप बनाता है।

रंगों के स्थाई गुण इस प्रकार हैं:—

हरा	सात्विक
लाल	राजसिक
काला	तामसिक
पीला	सात्विक व राजसिक

अभिनेताओं की सजावट पर शिल्पकला सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित देवताओं की साज–सज्जा का गहरा प्रभाव पड़ा है। कई पोशाकों का सुभाव पात्र के मुख–श्रृंगार तथा चरित्र से मिल जाता है।

कथकलि वेशभूषा में शिर की सज्जा का अपना सर्वोपरि महत्व है। शीश मुकुट में चटकते हुए शीशे के टुकड़े लगे होते हैं और इस पर खुदाई का सुन्दर काम देखते ही बनता है। कथकलि में **'केशभरम-किरितम'** तथा 'मुति' दो प्रकार की शिर-सज्जा मुख्य हैं।

'केशभरम किरितम' में शिर-मुकुट एक टोपी के आकार का होता है, जिसमें पीछे की ओर एक चपटा वृत्ताकार टुकड़ा लगा होता है। सामान्य पात्रों के मुकुट में वह पार्श्व-वृत्त छोटा होता है, किन्तु राजकीय शान के खल नायकों—जैसे रावण, शकुनि आदि के लिये इसका आकार बड़ा होता है।

दूसरे किस्म की शिर सज्जा **'मुति'** साधुओं के सिर की जटा के जूड़े से मिलती-जुलती होती है। यह नारद आदि देव-दूतों के लिये प्रयुक्त होती है। **वत्तामुति** में 'मुति' के मुकुट पर एक छतरी सी और बनादी जाती है। यह हनुमान के लिये काम में लाई जाती है। **कारीमुति** नामक एक अन्य शिर-सज्जा में शीर्ष मुकुट ऊपर से खुला रहता है। यह सूर्पणखां, शिकारी आदि को पहनाया जाता है। राम आदि के लिए **मुतिमुकुट** का ऊपरी गोला हटा दिया जाता है तथा अतिरिक्त सजावट के लिए मयूरपंख ऊपर लगा दिये जाते हैं। मुकुट के निचले हिस्से के साथ-साथ ही पेशानी पर **'चुट्टिनता'** रेखा बनाई जाती है। यह चेहरे के श्रृंगार तथा शिर सज्जा के कलात्मक मिलन का स्थल होती है।

कानों में चमकदार तथा रंगीन कुण्डलों की जोड़ी पहनी जाती है। कानों को सजाने के लिये एक मणि तथा गोल आभूषण **'चेविकुट्टू'**

का भी प्रयोग किया जाता है। पच्छा व चुट्टी शृङ्गार में कुण्डलम् और चेविकुट्टू दोनों धारण किये जाते हैं, जब कि टाडी श्रंगार में तथा स्त्री पात्रों द्वारा केवल कुण्डलम् का ही प्रयोग होता है।

कर्ण-आभूषणों के अतिरिक्त अभिनेताओं की साज-सज्जा में अन्य कई आभूषण भी प्रयोग किये जाते हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं-बाजूबन्द, कलाई की लड़ी, अँगूठियां, चांदी के नाखून, हार, मालायें, कमरबन्द, जंघा के लिये जंजीर, वक्ष-पत्र तथा पायल।

कमर में जो वस्त्र धारण किया जाता है वह एक लम्बे लँहँगे के आकार का होता है। सफेद वस्त्र के इस लँहँगे पर यत्र-तत्र बेल-बूटे कढ़े होते हैं तथा बीच-बीच में लाल वस्त्र भी लगा होता है। यह इस प्रकार धारण किया जाता है कि फुर्ती से अङ्ग संचालन में कोई बाधा न पड़े। लँहँगे के दोनों ओर भी कसीदा किए हुए वस्त्र रहते हैं तथा सामने 'मुन्ति' नामक सुन्दर पट्टी लटकती है। शरीर पर, ऊपर एक बण्डी पहनी जाती है, जिसपर गर्दन के चारों ओर अन्य वस्त्र लटकते रहते हैं। 'उत्तरियम' नामक वस्त्र एक लाल तथा कई श्वेत टुकड़ों से बनता है, जो कि उल्टे कमल की पँखुड़ियों के आकार का होता है। वक्ष पर 'कोटालरम' नामक एक अन्य सुन्दर वस्त्र भी रहता है।

साधु-पात्र विभिन्न प्रकार की पुष्प मालायें धारण करते हैं। कलाई के पास 'कतकम' व 'विलेस' 'चूड़ियां' पहनी जाती हैं। हार

प्राय: कांच के मोतियों का होता है और इसे स्त्री-पात्र धारण करते हैं, वे कृत्रिम–कुच भी वक्ष पर लगाते हैं।

पोशाकें यद्यपि भारी होती हैं, किन्तु इनसे पात्रों की भूमिकाएं अधिक सजीव प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार चेहरे का श्रृङ्गार भी होता तो परेशानी से ही है, किन्तु इससे अभिनय में यथार्थता का पुट दिया जाता है। पोशाक तथा श्रृङ्गार से अभिनेताओं की कला और भी खिल उठती है और दर्शकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

दसवां अध्याय

कथकलि नृत्याभ्यास

नृत्य दो प्रकार के माने गये हैं:—**ताण्डव** (पुरुषोचित) और **लास्य** (स्त्रियोचित) । ताण्डव की क्रियायें ऊपर और नीचे की ओर होती हैं, जब कि लास्य में इधर से उधर होती हैं । दोनों में अपना-अपना विशिष्ट आकर्षण होता है ।

कथकलि नृत्य में केरल वासियों के जीवन की भी स्पष्ट झांकी मिलती है । काव्य के साथ अभिनय करने में **'कलस'** का प्रयोग किया जाता है । [**'कलस'** क्रिया में कलाकार तेज़ी से घूमकर पदाघात करता है, फिर किसी भाव विशेष का प्रदर्शन करने के लिये पांवों को उछालता है]

ताण्डव नृत्य के शक्तिशाली पदाघात ताल आदि सभी वक्र होते हैं और इनसे **'वीर रस'** की अभिव्यक्ति होती है । इसके विपरीत लास्य-नृत्य में पदाघात आदि क्रियायें **'श्रंगारिक'** होती हैं । दोनों प्रकार के नृत्यों में संगीत भी भिन्न होता है । इन दोनों नृत्यों का प्रथक विकास भरत के 'नाट्यशास्त्र' से ही हुआ है ।

ताण्डव नृत्य मुख्यत: शिव से सम्बन्धित माना गया है । भैरव या वीरभद्र के रूप में भगवान शिव का जो तामसिक चरित्र प्रकट होता है,

उसी का भास ताण्डव कराता है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति के बारे में यह कहा जा सकता है कि **'ताण्डव'** सम्भवतः मूलरूप से उन्हीं नृत्यों का स्वरूप है जो कि **'थाण्डू'** नामक शिक्षक नाचा करते थे। **थाण्डू** ने विद्वान भरत को शारीरिक मुद्राओं का प्रशिक्षण दिया था। ये शारीरिक मुद्राएँ **'करन'**, **'अङ्गहार'** व **'रेचित'** कहलाती हैं। कई **'करनों'** के लगातार प्रदर्शन से 'अंगहार' का बोध होता है और दो या अधिक **'अङ्गहार'** एक **'रेचित'** बनाते हैं। भरत ने १०८ **'करन'**, ३२ **'अंगहार'** ४ **'रेचित'** का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण चाहने वाले पाठक गायनाचार्य व राजकुमार रचित हिन्दी ग्रन्थ 'भारतीय नृत्यकला' का प्रथम भाग पढ़ें एवं डा० नायडू कृत 'ताण्डव लक्षणम्' (इंगलिश) भी देखलें।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में करन, अंगहार तथा रेचित का जो उल्लेख किया है, वह यहां क्रमशः दिया जाता है:—

१०८ करन

१	तलपुष्पपुट	९	निकुट्टक	१७	दिक्स्वस्तिक
२	वर्तित	१०	अर्धनिकुट्टक	१८	अलात
३	वलितो	११	कटिच्छिन्न	१९	कटिसम
४	अपविद्ध	१२	अर्धरेचित	२०	आक्षिप्तरेचित
५	समनख	१३	वक्षस्वस्तिक	२१	विक्षिप्ताक्षिप्तक
६	लीन	१४	उन्मत्त	२२	अर्धस्वस्तिक
७	स्वस्तिकरेचित	१५	स्वस्तिक	२३	अञ्चित
८	मण्डलस्वस्तिक	१६	पृष्ठस्वस्तिक	२४	भुजंगत्रासित

२५ ऊर्ध्वजानु
२६ निकुञ्चित
२७ मत्तल्लि
२८ अर्धमत्तल्लि
२९ रेचक निकुट्टित
३० पादापविद्धक
३१ वलित
३२ चूर्णित
३३ ललित
३४ दण्डपक्ष
३५ भुजंगत्रस्तरेचित
३६ नूपुर
३७ वैशाखरेचित
३८ भ्रमरक
३९ चतुर
४० भुजंगांचितक
४१ दण्डकरेचित
४२ वृश्चिककुट्टित
४३ कटिभ्रान्त
४४ लतावृश्चिक
४५ छिन्न
४६ वृश्चिकरेचित
४७ वृश्चिक
४८ व्यंसित
४९ पार्श्वनिकुट्टन
५० ललाटतिलक
५१ क्रान्तक
५२ कुञ्चित
५३ चक्रमण्डल
५४ उरोमण्डल
५५ आक्षिप्त
५६ तलविलासित
५७ अर्गल
५८ विक्षिप्त
५९ आवृत
६० दोलपाद
६१ विवृत्त
६२ विनिवृत्त
६३ पार्श्वक्रान्त
६४ निशुम्भित
६५ विद्युद्भ्रान्त
६६ अतिक्रान्त
६७ विवर्तिक
६८ गजक्रीड़ितक
६९ तलसंस्फोटिक
७० गरुडप्लुतक
७१ गण्डसूची
७२ परिवृत्तम्
७३ पार्श्वजानु
७४ गृध्रावलीनक
७५ संनत
७६ सूची
७७ अर्धसूची
७८ सूचीविद्ध
७९ अपक्रान्त
८० मयूरललित
८१ सर्पित
८२ दण्डपाद
८३ हरिणप्लुत
८४ प्रेह्वोतिलक
८५ नितम्ब
८६ स्वलित
८७ करिहस्तक
८८ प्रसर्पितक
८९ सिंहविक्रीड़ित
९० सिंहाकर्षित
९१ उद्वृत्त
९२ उपसृतक
९३ तलसंघट्टित
९४ जनित
९५ अवहित्थक
९६ निवेश

९७	एलकाक्रीड़ित	१०१	संभ्रान्त	१०५	लोलितक
९८	उरुवृत्त	१०२	विष्कम्भ	१०६	नागोपसर्पित
९९	मदस्खलितक	१०३	उद्धट्टित	१०७	शकटास्य
१००	विष्णुक्रान्त	१०४	वृषभक्रीड़ित	१०८	गंगावतरण

३२—अङ्गहार

१	स्थिरहस्त	१२	पार्श्वस्वस्तिक	२३	पार्श्वच्छेद
२	पर्यस्तक	१३	वृश्चिक	२४	विद्युद्भ्रान्त
३	सूचीविद्ध	१४	भ्रमर	२५	उद्धृतक
४	अपविद्ध	१५	मत्तस्खलितक	२६	आलीढ
५	आक्षिप्तक	१६	मदबिलसित	२७	रेचित
६	उद्धट्टित	१७	गतिमण्डल	२८	आच्छुरित
७	विष्कम्भ	१८	परिछिन्न	२९	आक्षिप्तरेचित
८	अपराजित	१९	परिहृतरेचित	३०	सम्भ्रान्त
९	विस्कम्भापसृत	२०	वैशाखरेचित	३१	उपसर्पित
१०	मत्ताक्रीड	२१	परावृत्त	३२	अर्ध निकुट्टक
११	स्वस्तिकरेचित	२२	अलातक		

४—रेचक

१ पादरेचक, २ कटिरेचक, ३ हस्तरेचक, ४ ग्रीव

उपरोक्त मुद्राओं का कथकलि में समावेश करते समय केरल की परम्पराओं और देशकाल के विचार से उनमें आवश्यक परिवर्तन कर

लिये गये। हालांकि मुद्राओं का मूल आधार वही है, किन्तु कथकलि की टैकनीक तथा जन रुचि को देखते हुए मुद्राओं को थोड़ा बदला गया है, जिससे कि कई भंगिमाएँ तो और भी विकसित होकर अनुपम हो गई हैं।

सूक्ष्मता से देखा जाय तो कथकलि–नर्तक की मुद्राएँ तथा भाव–भंगिमाएँ मलयालम देवमूर्तियों की झांकी प्रस्तुत करती हैं।

अंग विन्यास—तीर के चिन्ह हाथों की दिशा दिखाते हैं और विन्दु यह बताते हैं कि निगाह किधर है।
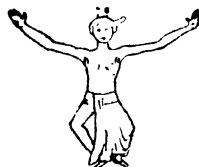
यहाँ मलयालम की देव मूर्तियों के विषय में कुछ विवरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। साधारणतया इन मूर्तियों की साज-सज्जा में निम्नांकित वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है:—

(१) **कटिबंध**

(२) **किरीटम्** (वैष्णव देवताओं के लिये)

(३) **करन्द मुकुट** (देवियों के लिये)

(४) **जत-मुकुट**

(५) **प्रभा-तोरण**

केरल के सभी मन्दिरों में प्रायः एक मुख्य मूर्ति धातु या पत्थर की होती है, जिसके साथ अन्य कई छोटी मूर्तियाँ होती हैं। इन मूर्तियों में पार्वती या भगवती अवश्य होती हैं।

केरल की कलाओं के कई पहलू पौराणिक कथाओं से प्रभावित हुए हैं, यह सर्वमान्यसत्य है।

केरल की देव मूर्तियों के तीन वर्ग हैं:—**सात्विक, राजसिक** और **तामसिक**।

(१) **सात्विक**—इन मूर्तियों में भगवान को योगियों की भाँति ध्यान-मग्न बैठे हुए दिखाया जाता है। उनके हाथ की मुद्रा आशीर्वाद व्यक्त करती है। इन्द्र तथा अन्य देवता भगवान (ब्रह्मा) को घेर कर उनकी आराधना करते दिखाये जाते हैं।

(२) **राजसिक**—मूर्तियां प्राय: किसी वाहन पर आरूढ़ विष्णु की होती हैं। उनके हाथों में आयुध (शास्त्र) भी होते हैं और एक हाथ की मुद्रा आशीर्वाद व्यक्त करती है।

(३) **तामसिक**—मूर्तियों में कई हाथों वाला, युद्धरत स्वरूप दिखाया जाता है, जो कि बहुत भयानक व वीभत्स होता है। ऐसी मूर्तियां प्राय: शिव और दुर्गा की होती हैं, जो कि संहार करते हुए अथवा असुरों से लड़ते दर्शायी जाती हैं।

ट्रावनकोर की मूर्तिकला में सर्वाधिक प्रचलित स्त्री स्वरूप में जिस नारी अङ्ग को दिखाया जाता है, उसके स्तन सुनहरी कुम्हड़े जैसे और नितम्ब चढ़ी हुई नदी के किनारे जैसे दिखाए जाते हैं।

कथकलि में निम्नांकित छ: मूल शारीरिक-स्थितियां होती हैं:—

(१) **लता-हस्त**—हाथ नीचे लटका रहता है।
(२) **निद्रित-हस्त**—सुप्तहाथ का प्रयोग।
(३) **कटि-हस्त**—हाथ कमर पर रखा जाता है।
(४) **धनुर्धारी-हस्त**—हाथ में तीर-कमान रखने का अभिनय।
(५) **अभिगन-हस्त**—आलिगन करता हुआ हाथ।
(६) **गज-हस्त**—हाथी की सूंड का बोध कराने वाला हाथ।

इनके अतिरिक्त कथकलि में अंगुलियों के संकेतों पर आधारित आठ अन्य विशेष मुद्राएँ भी प्रयुक्त होती हैं:—

(१) कटका-हस्त ।

(२) कर्तरी-हस्त ।

(३) सिंहकर्ण-हस्त ।

(४) पताका-हस्त ।

(५) त्रिपताका-हस्त ।

(६) सूची-हस्त ।

(७) अर्धचन्द्र-हस्त ।

(८) ज्ञान-हस्त ।

इन क्रियाओं से नर्तक की भावभंगिमाओं में निखार आ जाता है। कथकलि के निम्नलिखित अङ्ग माने गये हैं:—

(१) अभिनय ।
(२) वेशभूषा ।
(३) श्रृंगार ।
(४) हस्तप्रयोग ।
(५) भाव-भंगिमाएं (शारीरिक स्थिति)
(६) हावभाव ।
(७) पदाघात ।
(८) हाथों को फैलाना व हिलाना ।
(९) मंच पर चलना ।

यह सब प्रदर्शित हो जाता है तो कथकलि की एक आवृत्ति होती है ।

कथकलि कला में सौन्दर्य के साथ-साथ अभिव्यक्ति का भी भंडार है। इसमें कलाकार वस्तुविशेष का चित्रण बड़ी चतुराई से करता है। कभी तो यह चित्रण केवल अंग विशेष मे होता है, कभी संकेत मे, तो कभी केवल हाव-भाव से। तभी इस कला का प्रत्येक हाव-भाव तथा प्रत्येक संकेत अर्थपूर्ण होता है।

उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि कथकलि अभिनेता एक ऊँचा पर्वत दिखाना चाहता है। सबसे पहले वह यह दर्शाने की चेष्टा करेगा कि पर्वत किस प्रकार का है। उसके हाव-भाव चित्र नं० १ से मिलते-जुलते होंगे। चित्र नं० ३ से पर्वत की ऊँचाई का आभास होता है। पर्वत का विस्तार बताने के लिये ४ और ५ नम्बर के चित्रों में दिखाई गई मुद्राएँ प्रयुक्त होंगी। दो मुद्राओं के प्रदर्शन के बीच कुछ समयान्तर रखा जाता है। यहां संकेत व हाव-भाव भी भिन्न प्रकार के ही दिखाये जायेंगे।

अब मैं इस शताब्दी के सर्वोत्तम भारतीय नर्तक श्री उदयशंकर द्वारा १९४० में मंचस्थ नृत्य–नाट्य "जीवन का लयबद्ध क्रम" का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता हूं। नृत्यनाट्य का कथानक इस प्रकार है:—

"दुनियाँ का अनुभव रखने वाला एक नवयुवक ज़माने की ठोकरें खाकर एक उत्सव के समय अपने गांव लौटता है। वह आधुनिक सभ्यता और स्वार्थी लोगों के षड्यन्त्रों का शिकार हुआ है। निराश युवक नृत्य व रागरंग में कोई रुचि नहीं लेता; जीवन उसे एक व्यर्थ

बोझ मालुम होता है। सब कुछ सोचने समझने के लिए वह लेट जाता है। पार्श्व संगीत चलता रहता है। "मैं बड़े नगरों का जीवन देख चुका हूं", वह सोचता है, "वहां दिखावा, भोग विलास आदि हैं तो साथ ही लोगों के हृदय भी संकुचित हैं। यहां भोले-भाले सत्यपरायण ग्रामीण अनन्त दुःख सहकर किसी प्रकार जीवन संग्राम किये जारहे हैं। सदियों से वे शोषित, प्रताड़ित हैं, ठगे जाते रहे हैं, फिर भी वे अनभिज्ञ बने हुए हैं। वर्षों से मैं इनके उद्धार और नव-जागरण के लिये इनके कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने की सोच रहा हूं, किन्तु मेरे स्नेह और सद्भावनाओं का मूल्य कोई नहीं आंक सका है।"......धीरे-धीरे युवक ऊँघने लगता है, किन्तु उसके विचारों ने उसके अन्तर को उद्वेलित कर दिया है। उसके मस्तिष्क में एक कथा आती है:—

दक्ष का वध कर शिवजी भयंकर रूप में प्रकट होते हैं और अपने अन्तर में हिलोरें ले रहे क्रोधावेग को शान्त करने के लिये डमरू आदि वाद्यों का सृजन करते हैं। शिवजी को प्रसन्न कर आशीर्वाद पाने के लिए देव कन्यायें तथा अप्सराएँ उनके व युवक के सम्मुख नृत्य करती हैं। उनके अदृश्य होते ही नंगी तलवारें लिये दिवा-योद्धा इस प्रकार अवतरित होते हैं मानों वे युवक का काम ही तमाम कर देंगे। इसके बाद एक अनिंद्य सुन्दरी प्रकट होती है। युवक इस आकर्षक स्त्री को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठता है और मन्त्रमुग्ध सा उसके साथ नृत्य करता है, किन्तु जिस क्षण वह उसे बाहुपाश में समेटना चाहता है, वह अर्न्तध्यान हो जाती है। अब युवक अपने चारों ओर फैले हुए कृषकों के साथ नाचता है, किन्तु वे भी एक-एक कर उसे छोड़ जाते हैं।.........यहां वातावरण में मलीनता छा जाती है। आने

वाले दुर्भाग्य का पूर्वाभास होने लगता है।.........धीरे-धीरे एक साहूकार आकर युवक से अपना ऋण वापस मांगता है और युवक द्वारा कुछ न दिये जाने पर वह उसे इतना निर्दयता पूर्वक कोड़े लगाता है कि युवक आहत होकर धराशायी हो जाता है। उसका शरीर लोहूलुहान होरहा है। तभी गाँव वाले एकत्रित होकर युवक से प्रार्थना करते हैं कि वह राष्ट्रीय झण्डा लेकर उनके नेता की तरह नगर चलकर 'शक्तिशाली पुरुष' से मिले। 'शक्तिशाली पुरुष' सदा कृषकों का हित चाहता है। वह उन्हें भूख और मृत्यु से बचाना चाहता है। कृषकों का कहना है कि वह सत्य और देश के नाम पर युवक को नया जीवन देगा। इसके बाद 'शक्तिशाली पुरुष' प्रकट होता है। युवक पहिले तो उसके आने को सत्य नहीं समझता, फिर साक्षात यथार्थ मालुम होता है, अतः वह 'शक्तिशाली पुरुष' से मिल पाने की खुशी में आनन्दातिरेक से सिसक उठता है। इसके बाद युवक गाँव वालों के सदा के दुखड़े उसे सुनाता है और बताता है कि किस प्रकार भोले कृषकों का शोषण किया जाता रहा है। युवक की आवाज में कसक है, आन्तरिक सहानुभूति का पुट भी है। 'शक्तिशाली पुरुष' उसे धीरज बँधाकर सान्त्वना देता है और वायदा करता है कि गांव वालों के दुःख दूर कर दिये जायेंगे। युवक देखता है कि एक नया युग प्रारम्भ हो रहा है, जिसमें नारी जागरण की भी लहर आती है। देश की महिलायें भी साहसपूर्वक स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लेकर त्याग करने से पीछे नहीं हट रही हैं। किन्तु जहां अधिकांश देशवासी पूरे मनोयोग के साथ आजादी की लड़ाई में लगे हुए हैं, वहां कुछ ऐसे भी लोग हैं जो झूठे, मक्कार और पाखण्डी हैं। किन्तु युवक को विश्वास है कि प्रगतिशील देशभक्त कोई अनर्थ नहीं होने देंगे। 'शक्तिशाली पुरुष' युवक का परिचय देश भक्तों

से करवाता है। देश भक्त उसे वचन देते हैं कि वे देश की रक्षा के लिये कोई कसर नहीं उठा रखेंगे।......शक्तिशाली पुरुष के जाते ही चारों ओर रूढ़िवाद, ईर्ष्या, स्वार्थपरता, धोखाधड़ी दासवृत्ति, आदि का विष पुन: फैलने लगता है। युवक असहाय होकर चारों ओर सहायता के लिये देखता है। धीरे-धीरे उसके चारों ओर की भीड़ बढ़ती जाती है। युवक उस परिस्थिति से घबराकर हिम्मत हारता जाता है।......तभी वह तन्द्रा से चौंक उठता है। उसका मस्तिष्क अभी तक चकराया हुआ है। पार्श्व संगीत चलता रहता है।...... युवक की समस्या का हल नहीं मिल सका है, किन्तु उसके हृदय में एक नई आशा का अँकुर फूट रहा है।

मेरे विचार में यह अभिनय प्रधान नृत्य-नाट्य का एक आदर्श उदाहरण है। हालांकि श्री उदयशंकर ने कथानक को स्टेज करने में कथकलि की भारी पोशाकों तथा सूक्ष्म श्रृंगार का उपयोग नहीं किया, फिर भी नृत्य-नाट्य मूलत: कथकलि सिद्धान्तों पर ही आधारित था। इसमें भरत के 'नाट्यशास्त्र' से भी कुछ सहायता ली गई थी।

संलग्न चित्र-माला में इस नृत्य-नाट्य का पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है... ।
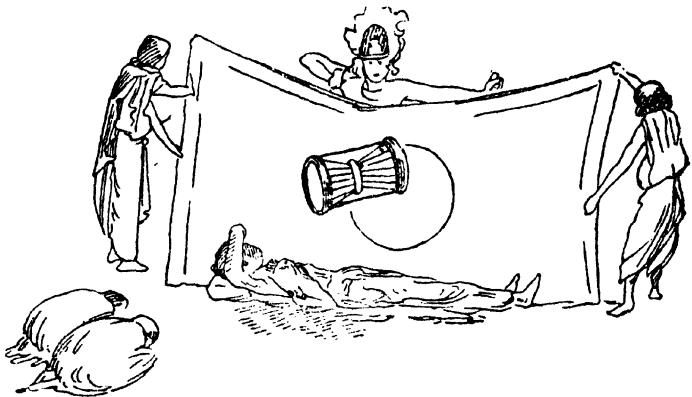
उसके हृदय में खलबली मचजाती है और वह शनैः–शनैः निद्रावस्था में पहुंच जाता है और देखता है कि शिव रौद्र रूप में प्रगट होते हैं।

स्वप्न में उसके चारों ओर अप्सराएं नाचती हैं

दिवा योद्धाओं की एक टोली प्रकट होती है

वह उसके रूप से आकर्षित होता है···सब उसे छोड़ देते हैं···
वातावरण में मलीनता पैदा हो जाती है।

साहूकार उसे निर्दयता से कोड़े लगाता है ।

ग्रामीणों का एक समूह प्रकट होता है और उससे राष्ट्रीय झण्डा ग्रहण करने का आग्रह करता है ।
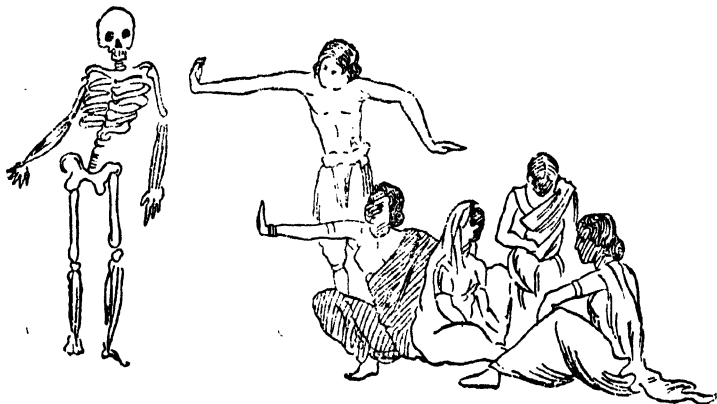
किन्तु मृत्यु और भुखमरी उसे त्रस्त कर रहे हैं····· वह नारी का जागरण देखता है ·····फिर क्रांति फैल जाती है।

कथकलि के शत प्रतिशत प्रदर्शनों में पोशाक तथा श्रृंगार का अपना महत्व होता है। इसके लिए कथानक अधिकतर कोट्टरक्कारा के महाराज कृत ग्रन्थ 'कथकलि' से लिये जाकर रूपान्तरित होते हैं। अन्त में मैं यही कहूंगा कि किसी भी पुस्तक द्वारा इस अनुपम विस्तृत कला को पूरी तरह से समझा सकना एवं इसके प्रत्येक अङ्ग की बारीकी बताना असम्भव है। इसमें रुचि रखने वालों को चाहिये कि वे अक्टूबर से लेकर नवम्बर तक, जबकि ट्रावनकोर में कई बहुरंगी उत्सव मनाये जाते हैं, वहां जायें और इस कला का असली प्रत्यक्ष स्वरूप देखें।

ग्यारहवां अध्याय

कथकलि की तालें

विज्ञान के अनुसार प्रत्येक वस्तु अपनी सतह ढूंढ़ती है। जब कोई वस्तु सतह या सीमा से बढ़ जाती है तो वह छलक उठती है। इसी प्रकार संगीत में भी सतह का नियम देखने में आता है। प्रत्येक स्वर या ध्वनि संगीतमय नहीं होती। असंतुलित, कर्कश स्वर श्रोताओं में अरुचि उत्पन्न करते हैं, किन्तु संतुलित और सुरीले स्वर श्रव्य-आनन्द देने के साथ संगीत का भी सृजन करते हैं। 'ताल' को हम संगीत की सीमा या माप कह सकते हैं। इससे स्वर एक सुन्दर क्रम में बँध कर 'लय' बनाते हैं।

नृत्य का उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है, जब कि उसके हाव-भाव व मुद्राएँ अर्थपूर्ण ही नहीं, लयबद्ध भी हों। 'संगीत' नामक प्राचीन ग्रंथ में कहा गया है कि "ताल की महानता इसी में है कि उससे किसी भी रचना को लय की सीमा में बांधा जाकर उसके निश्चित भाग बना दिये जाते हैं, जिनमें ठेका, सम, खाली आदि से रचना के स्वरूप को क्रमबद्ध रखा जाता है। ताल—गीत, वाद्य व नृत्य की आत्मा है। यथा:—

तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञ्चि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥

"तालकालक्रिया मानम्" के अनुसार हम कह सकते हैं कि ताल का कार्य समय–सूचक है। ऐसी संगीत रचना या नृत्य जिसमें समय का क्रम न हो, पूर्ण नहीं कहे जा सकते।

प्राचीन काल में आज जसी तालें नहीं होती थीं, जिनका मुख्य उद्देश्य केवल ठेका देना ही हो। उस समय तालों में मात्राएँ दशमलव पद्धति परहोती थीं। दशमलव–पद्धति पर विभक्त तालों का उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है।

'संगीत रत्नाकर' नामक प्राचीन ग्रन्थ में प्लुत, गुरु, लघुविराम, लघु, द्रुतविराम और द्रुत तालों का वर्णन मिलता है। प्लुत में १२, गुरु में ८, लघुविराम में ५, लघु में ४, द्रुतविराम में ३ और द्रुत में २ मात्राएँ मानी गई हैं।

यह विभाजन कविता क गात्राओं जैसा ही है।

उस समय सब तालों की व्युत्पत्ति मात्रा विभाजन के उपरोक्त सिद्धान्त पर हुई। उदाहरण के तौर पर 'निशंखलील ताल' में ४८ मात्राएँ होती हैं; तसमें दो प्लुत (संकेत ऽ̀ ऽ̀), दो गुरु (संकेत ऽ ऽ), और एक लघु (संकेत ।) होंगे। अतः 'निशंखलील ताल' को हम यों लिख सकते हैं:—

ऽ ऽ̀ ऽ ऽ ।

'मिश्रवर्ण ताल' में ७१ मात्राएँ होती हैं, जिसमें द्रुत (संकेत ०), द्रुतविराम (०̀), तथा प्लुत (ऽ̀), गुरु (ऽ) और लघु (।) की स्थिति इस प्रकार है:—

०•०० ० ०००० ० ०००० ऽ ऽ०० ऽ । ऽ

उस समय सभी रचनायें इसी प्रकार विभाजित की जाती थीं।

ताल प्रकृति का ज्ञान सर्व प्रथम साधुओं को ही हुआ, क्योंकि वे अपने विचारों के उतार–चढ़ाव में समय–क्रम का न्यूनाधिक प्रभाव अनुभव करते रहते थे। एक प्राचीन ग्रंथ में उल्लिखित है कि तालों की व्युत्पत्ति पक्षियों के स्वरों से हुई। नीलकंठ एक मात्रा की बोली बोलता है, कौवे की कांव–कांव में दो मात्राएँ मानी गई हैं, मयूर स्वर में तीन मात्राएँ तथा रेंगने वाले विषधरों के स्वर में आधी मात्रा होती है। निम्नांकित तालिका का भी उल्लेख मिलता है:—

२ अणु	बराबर हैं	१ द्रुत
२ द्रुत	"	१ लघु
२ लघु	"	१ गुरु
३ गुरु	"	१ प्लुत
१० प्लुत	"	१ पल

एक प्लुत में ३ मात्राएँ होती हैं तथा १० प्लुत में ३०, अर्थात १ पल में ३० मात्राएँ होती हैं। अंग्रेजी स्टैंडर्ड समयानुसार १ पल २४ सैकिंड का होता है। इस प्रकार २४ सैंकिडों में एक पल या काल की एक इकाई व्यतीत हो जाती है। यही समय का सही माप है।

शार्ङ्गदेव ने तालों के दो प्रकार माने हैं:—मार्गी ताल और देशी-ताल। मार्गी तालों में निम्नांकित का उल्लेख किया गया है:—

चञ्चत्पुट, संपक्वेष्टा, षटपितापुत्रक और चाचपुट।

देशी तालों के अन्तर्गत तत्कालीन १२० तालें वर्णित हैं, किन्तु इनका अब प्रयोग नहीं होता।

यह कहा जा सकता है कि शार्ङ्गदेव, भरत आदि सांस्कृत विद्वानों के समकालीन नर्तकों ने ताल और लय की सर्वोच्च निपुणता प्राप्त करली थी, क्योंकि उस समय के ग्रंथों में गुरु, लघु आदि समयान्तरों के अतिरिक्त तालों के और भी सूक्ष्म विभाजन का उल्लेख मिलता है।

आजकल तालों का वर्गीकरण प्रायः **विलम्बित, मध्य व द्रुत** आदि लयों के विचार से किया जाता है। पाश्चात्य संगीत में समयान्तर विभाजन के अनुसार तालों का **'मौडरेटो'** (Moderato), **'एलैगरो'** (Allegro), **'ऐण्डेट'** (Andate) आदि में वर्गीकरण किया जाता है।

संगीत की आत्मा **ताल** और ताल की आत्मा **सम** है। सम को छोड़कर कई बार **'घात'** **'अनाघात'** आदि का भी प्रयोग होता है, किन्तु अन्ततः सभी संगीतज्ञों व नर्तकों को सम का ही सम्बल लेना होता है। मात्राओं की विशिष्ट रचनाओं को **'आड़ी'** **'कुआड़ी'** **'तिया'** इत्यादि कहते हैं। यह सब भारतीय संगीत की विशेषता है। इनमें मूल लय का अतिक्रमण किये बिना ही कुछ अलंकार बजाये जाते हैं, जिनसे कि संगत और भी खिल उठती है। अन्त में वही कलाकार सफल कहा जा सकता है, जोकि लय व ताल की सभी बारीकियों को हृदयंगम करले।

संसार-सृष्टि की लय, शिव के दिव्य नृत्य तथा इसी प्रकार के अन्य नृत्यों की लय सदा शिवजी के डमरू की ताल में निबद्ध रही है। या तो कोई रचना ताल की मात्राओं के हिसाब से घटाई-बढ़ाई जाती है या फिर ताल का ही लय में मिलान किया जाता है। कुछ भी हो रचनाओं में लय, ताल की मात्रा, आघात और सम का स्थान अवश्य होता है।

देश के दक्षिणी और उत्तरी भागों में प्रचलित तालें भिन्न हैं। यह भिन्नता सैद्धान्तिक नहीं, प्रयोगात्मक है। कुछ अप्रचलित तालें आधुनिक लोकप्रिय तालों से मेल नहीं खातीं, किन्तु वे भी शास्त्रोक्त नियमों की सीमा का ध्यान रखते हुए ही रची गई थीं।

कथकलि में प्राय: निम्नांकित तालें प्रयुक्त होती हैं:—

(१) **आदि ताल**—इसमें आठ मात्राएँ होती हैं, जिसमें से दो खाली रहती हैं।

(२) **जम्पा या झम्पा**—इस ताल में १० मात्राएँ होती हैं। इसमें तीन भरी (आघात) तथा एक खाली होती है।

(३) **अठ ताल**—इस में १४ मात्राएँ मानी गई हैं, जिनमें से ४ आघात व २ खाली होती हैं।

(४) **त्रिपुट ताल**—इसमें ७ मात्राएँ होती हैं जिनमें से ३ आघात तथा २ खाली मानी गई हैं।

(५) **रूपक ताल**— में ६ मात्राए होती हैं। इनमें दो भरी व १ खाली मानी गई है।

स्वरलिपि में इन तालों का स्वरूप इस प्रकार लिखा जायेगा:—

[। = हाथ का आघात]
[० = उँगलियों की गिनती]
[× = हाथ का संकेत]

(१) **आदि ताल**— । ० ० ० । × । × ·· ८ मात्राएँ ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

(२) **झम्पा ताल**— । ० ० ० ० ० ० । । × ···१० मात्राएँ ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

(३) **अठ ताल**—। ० ० ० ० । ० ० ० ० । × । × १४ मात्राएँ
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४

(४) **त्रिपुट ताल**—। ० ० । × । × ··· ··· ७ मात्राएँ ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७

(५) **रूपक ताल**—। ० ० ० । × ··· ··· ६ मात्राएँ ।
१ २ ३ ४ ५ ६

सर्व प्रथम कथकलि 'कलाकार इन्हीं पांचों तालों का अभ्यास करता है। इनमें पारंगत हो जाने पर लय का ठोस ज्ञान हो जाता है, फिर अधिक गूढ़ व क्लिष्ट तालों का अभ्यास किया जाता है।

इन तालों के बोल उत्तरभारत में प्रचलित तालों के बोलों से अधिक शक्तिशाली, कठिन व भारी प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ बोल हैं:—

थुंग, कड़ान, घिर-घिर, क्ड़िग, ध्रांग, द्रिक-ध्रिक, आदि। इन बोलों को भी भावों के अनुसार ही प्रयोग किया जाता है। वीर रस की अभिव्यक्ति के लिये शक्तिशाली बोल काम में लाये जाते हैं; उन पर नृत्य भी इस रस के अनुकूल ही होता है और श्रंगार रस की अभिव्यक्ति के लिये नृत्य अधिक मोहक व विलम्बित होता है, अतः उस समय बोल भी हलके ही रहते हैं।

जिस प्रकार उत्तर भारत में तबला, मृदंग, पखावज आदि ताल-वाद्य बजाये जाते हैं; उसी प्रकार दक्षिण में पेरिकई, पदकम, इदाक्कई आदि लोकप्रिय हैं। यहां एक ही नृत्य में विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग ताल-वाद्य काम में लाये जाते हैं। इनमें से कुछ पर एक ही ओर चमड़ा मढ़ा रहता है तो कुछ पर दोनों ओर।

उपरोक्त बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नृत्य हो चाहे संगीत, कलाकार अपनी रचना को सफल तभी बना सकता है जबकि ताल संतुलित हो ताकि लय का क्रम भंग न होने पाये। ताल से समय के साथ-साथ विस्तार का भी भान होता है, और लय में केवल पदाघात ही नहीं किया जाता, सभी अङ्गों का संचालन लय के क्रम में होता है। कहते हैं प्रकृति उस समय तक गतिवान नहीं हो सकती जब तक कि शिवजी की इच्छा न हो। जब वे अपना डमरू बजाते हैं तो ब्रह्माण्ड में व्याप्त पांचों तत्व गति पाकर नृत्य करने लगते हैं। रस अनन्त नृत्य में ब्रह्माण्ड व इसके प्राणी सभी सम्मिलित हैं। हम सभी अनन्त की लय का पालन कर रहे हैं।

परिशिष्ट—

कथकलि मंच

कथकलि के लिये छप्पर से ढके हुए बड़े व छोटे दोनों ही प्रकार के मंच (स्टेज) बनाये जाते हैं, किन्तु मञ्च के आकार-प्रकार से प्रदर्शन प्रभावित न हो, इसी में कलाकार की चतुराई समझी जाती है। यवनिका के लिये एक मोटा, रंगीन कपड़ा मंच के सामने लटकाया जाता है। इस पर कमल का पुष्प अंकित होता है, या भगवान शिव अथवा विष्णु की आकृति बनादी जाती है। आवश्यकतानुसार पर्दा हटाने या गिराने के लिये दोनों ओर दो व्यक्ति खड़े होते हैं। यह पर्दा प्राय: ४ फीट चौड़ा और ५ फीट लम्बा होता है। प्रकाश के लिये मंच के अग्र भाग के मध्य में एक पीतल का लैम्प रखा जाता है, जिसमें नारियल का तेल जलता है। $3\text{–}3\frac{1}{2}$ फीट की ऊँचाई पर रखे इस लैम्प में कई बत्तियां होती हैं। मंच पर फर्नीचर के रूप में केवल एक हस्त निर्मित मामूली सी छोटी तिपाई होती है। जब किसी पात्र को अपनी प्रतिष्ठा, वैभव, शान या बड़प्पन दिखाना होता है तो वह अपना एक पांव उठाकर इस तिपाई पर रख लेता है।

दर्शकगण मंच के सामने ही चटाइयों पर बैठते हैं।

ट्रावनकोर के वाद्य-यन्त्र

केरल में सांस्कृतिक उत्थान के साथ अनेक वाद्य-यंत्रों का भी विकास हुआ है। मूलतः वाद्यों के तीन वर्ग बनाए गए थे:—

(१) **गीतांग वाद्य**—[वे वाद्य जिन्हें कंठ संगीत के साथ प्रयोग किया जाता था।]

(२) **नृत्यांग वाद्य**—[नृत्य के साथ संगत के वाद्य।]

(३) **अभ्यंग वाद्य**—[जिन्हें कि नृत्य और संगीत दोनों के साथ बजाया जाता था] उस समय वाद्यों को सामूहिक रूप से **'इसईक्करूरी'** कहा जाता था।

'इसईक्करूरी' को भी चार भागों में विभक्त किया गया था:—

(१) **थोरकारूरी**—या चमड़े के वाद्य, (२) **थूलाईक्कारूरी**—छेद वाले वाद्य, (३) **नरम्बुक्करूरी**—तार वाद्य और, (४) **मिदातुक्करूरी**—सुषिर-वाद्य। इनमें से बांसुरी, जिसे प्राचीन तामिल भाषा में **'वंकियम'** कहा जाता था, सर्वोत्कृष्ट सुषिर-वाद्यों में से एक मानी जाती थी। **'वंकियम'** के अतिरिक्त **'कोनतैयन्कूलल'** **'अम्पलनथिकूलल'** **'मुल्लैयन्कुलल'** किस्म की बांसुरियों का भी उल्लेख मिलता है।

आदिवासी युग में **'याल'** देश के इस भाग का मुख्य तार-वाद्य था। तारों की संख्या के अनुसार **'याल'** कई प्रकार के होते थे। **'परियाल'**

में २१ तार, 'मकरयाल' में १६, 'सकोड्याल' में १४, और 'सेंकोट्टियाल' में ७ तार होते थे

सिलाप्पथिकारम' के अनुसार चमड़े के वाद्य, जिन्हें कि किसी भी संगत के लिये प्रयोग किया जा सकता है, निम्नांकित हैं:—

(१) पेरीकाई—एक प्रकार की भेरी ।

(२) पदकम् – डफली ।

(३) इदक्काई—दोनों ओर से मढ़ा हुआ ढोल ।

(४) मद्दलम्—ढोलक ।

(५) उदूक्कई—डमरू ।

(६) चल्लीक्कई—बड़ा ढोल ।

(७) करादिक्कई—एक प्रकार का ढोल ।

(८) थीमीलई—मछुओं का ढोल ।

(९) कुदामुल—मिट्टी का ढोल ।

(१०) थक्कई—डफली ।

(११) गनाप्पारई—एक प्रकार का ढोल ।

(१२) डमरूकम—छोटा ढोल ।

(१३) थान्नुमई—एक प्रकार की ढोलक ।

(१४) थदरी—

(१५) अंथरी—

(१६) **मुलावू**—साधारण ढोल।

(१७) **चन्द्रवलयम्**—एक प्रकार का ढोल।

(१८) **मन्थई**—एक ओर से खुला हुआ ढोल।

(१९) **मुरासू**—नगाड़े का एक प्रकार।

(२०) **कन–विदु–थम्बू**—एक प्रकार का ढोल।

(२१) **निसलम्**—एक ओर से मढ़ा हुआ ढोल।

(२२) **थूदूमई**—एक प्रकार का ढोल।

(२३) **चीरूपरई**—छोटा ढोल।

(२४) **अदाक्कम**—एक प्रकार का ढोल।

(२५) **थाकुनिचम**—

(२६) **विरालेरू**—

(२७) **पकम्**—

(२८) **उपंकम्**—

(२९) **नलीकई**—

(३०) **परई**—एक बड़ा ढोल।

(३१) **थुती**—छोटा डमरू।

जो ताल वाद्य अबतक ट्रावनकोर में प्रयोग किये जाते हैं, वे हैं:—

भेरी, डमरूकम्, मृदंगम्, गञ्जलि, ढोलक, थुती, उदुक्कू, चेंता, ।यमिल, इदेक्क, थाकिल, घाट, वाद्यम्, मिलावू, मुरासू और परई।

आजकल प्रयुक्त मुख्य सुषिर–वाद्य हैं:—

नागस्वरम्, नेदुमुकुलाल, कुरुमुकुलाल, मुरली, पुल्लंकुलाल, श्रुति, पम्पूनागस्वरम्, मुखवीणा और कोम्पू ।

मुख्य आधुनिक तार-वाद्य हैं:—

नन्थनी, वीणा, तम्बूरा और वांयलिन [सारंगी, स्वरभित्ति व गोट्टुवाद्यम का प्रयोग १८१३–१८४७ ई० में स्वाति तिरुनल महाराजा के शासन काल में किया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे इन वाद्यों का प्रयोग बन्द होगया ।]

——

सङ्गीत व नृत्य के विकास में
ट्रावनकोर के राजपरिवारों का योग

मलाबार में संगीत तथा नृत्यादि कलाओं का जो अपूर्व विकास हुआ है, उसका अधिकांश श्रेय ट्रावनकोर के राजपरिवारों को है। कथकलि की व्युत्पत्ति से लेकर अब तक ट्रावनकोर के शासक इस कला को संरक्षण देते आये हैं। महाराज श्री चित्र तिरुवल ने उत्सव इत्यादि पर कथकलि प्रदर्शन के लिये चोटी के कलाकारों का एक दस्ता अपने यहां रखा है। महाराज स्वयं कथकलि शास्त्र के विद्वान तथा पारखी हैं। उन्होंने एक बार लिखा था कि "कथकलि कला जगत को एक नई कला की देन है।"

केरल में कथकलि के विकास तथा विभिन्न राजपरिवारों द्वारा उसमें योगदान का क्रमवार ब्योरा इस प्रकार है:—

१५७५–१६५० ई० वीरकेरल वर्मा : कोट्टरक्कारा के नरेश। इन्होंने कथकलि कला की नींव रखी।

१७५८–१७६८ ई० काथिक तिरुनल महाराज। आप कथकलि गीतों के प्रतिभा सम्पन्न लेखक हुए हैं। इनके एक निकट सम्बन्धी युवराज अस्वथी तिरुनल भी कथकलि के अच्छे रचयिता हुए हैं।

१८१३–१८४७ ई० स्वाति तिरुनल राम वर्मा महाराज। ये भी यशस्वी संगीतज्ञ व संगीत रचयिता हुए।

१८४७–१८६० ई० उथराम तिरुनल मार्तण्ड वर्मा महाराज।

१८६०–१८८० ई० अयीलयम तिरुनल राम वर्मा महाराज।
आजकल यह कला महाराज श्री चितराल तिरुनल बलराम वर्मा तथा राजमाता महारानी सेथू पार्वतीबाई की देखरेख में प्रगति कर रही है।

संदर्भ सामग्री

रेडियो सम्प्रेषण—

'कथकलि नृत्य' गायनाचार्य ए० सी० पांडेय की वार्ता : आकाशवाणी लखनऊ से २९ सितम्बर, १९४१ को प्रसारित।

समकालीन रचनायें—

'भारतीय नृत्यकला' लेखक गायनाचार्य ए० सी० पांडेय।

'भारत के नृत्य' (ओरियन्ट इलस्ट्रेटेड वीकली, कलकत्ता, १० नवम्बर १९४० के अङ्क में प्रकाशित) ले० गायनाचार्य ए० सी० पांडेय।

'हस्त' ग्रन्थ १, संख्या ६। भारत नाट्य समाज, लखनऊ में २२ दिसम्बर १९४० को गायनाचार्य ए० सी० पांडेय का उद्घाटन भाषण। (नेशनल हेराल्ड, लखनऊ के २३ दिसम्बर १९४० के अङ्क में प्रकाशित)

'कथकलि' (इण्डियन रिव्यू, मद्रास, दिसम्ब १९३९) लेखक के० पी० पी० टैम्पी।

'कथकलि' लेखक एच० श्रीनिवास।

'नाट्य—भारत की अलौकिक कला' (त्रिवेणी : जुलाई १९३९) लेखक एस० आर० गोविन्दराजन।

'उँगलियों के संगीतमय संकेत' (इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इन्डिया बम्बई : २० अगस्त १९३९) लेखिका श्रीमती स्टैन हार्डिग।

'कथकलि की हस्त-मुद्राएँ' (मौर्डन रिव्यू, कलकत्ता : जून १९३७) लेखक—कुट्टीरकृष्ण मरार।

'कला के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण' (ओरियन्ट इलस्ट्रेटेड वीकली, कलकत्ता : १६ मार्च १९४१, व हिन्दुस्तान रिव्यू, पटना : अप्रैल १९४१) लेखक—गायनाचार्य ए० सी० पांडेय।

'मलाबार की कथकलि' [त्रिवेणी, १९३२] लेखक—एन० के० वेंकटेश्वर।

'कथकलि का अभिनय' [माडर्न रिव्यू, कलकत्ता : मार्च १९३५] लेखक—राजेन्द्रशंकर।

'भारत के वैदिक नृत्य' (नेशनल हेराल्ड, लखनऊ : २० सितम्बर १९३९) लेखक—गायनाचार्य ए० सी० पांडेय।

पुरातत्व विभाग प्रकाशन—

'कथकलि कला' भूमिका लेखक आर० वासुदेव पोडवल, पुरातत्व विभागाध्यक्ष, त्रिवेन्द्रम।

'हिन्दू कलाओं में हस्त-मुद्राएँ' मुद्राओं की चित्र-तालिका।

'ट्रावनकोर में संगीत' [ट्रावनकोर स्टेट मैन्युअल १९४० से उद्धृत] लेखक—श्री आर० वी० पोडवल, बी० ए०, पुरातत्व विभागाध्यक्ष, त्रिवेन्द्रम।

कथकलि और भरतनाट्यम्

की कुछ

भाव-मुद्राएँ
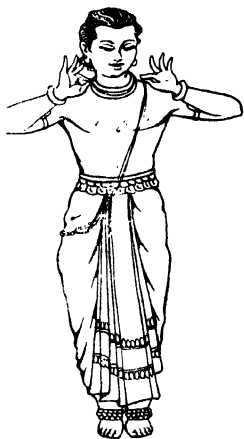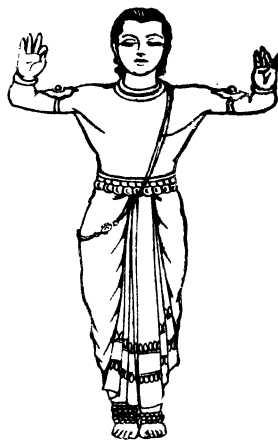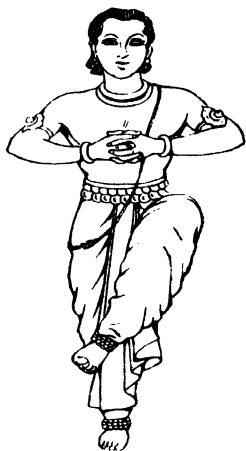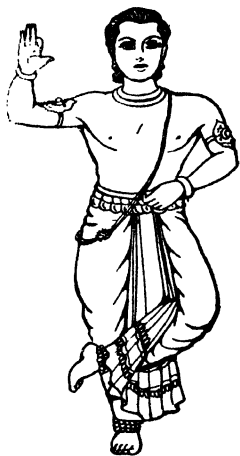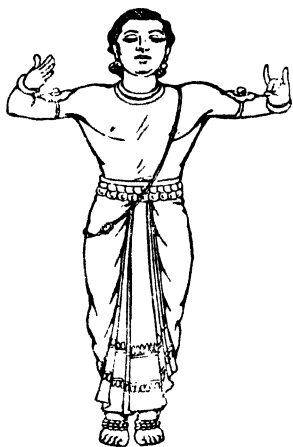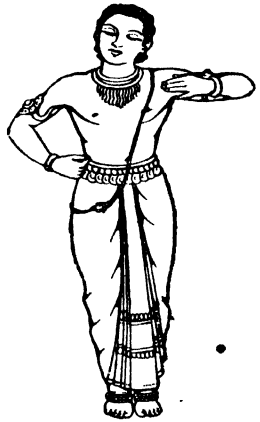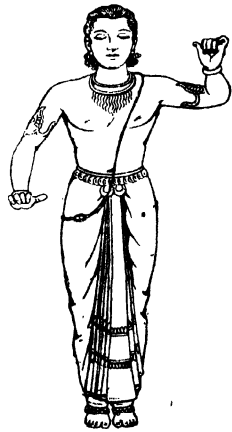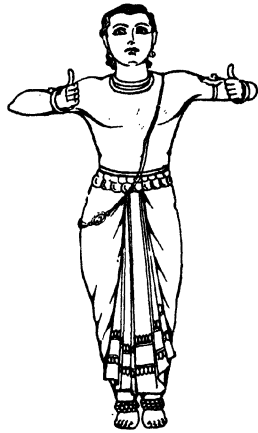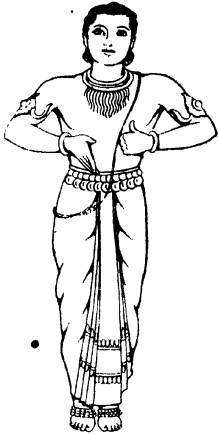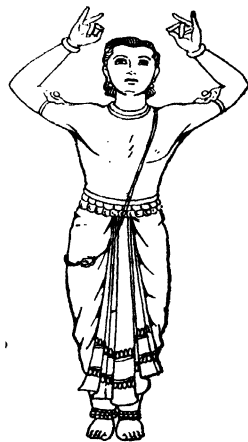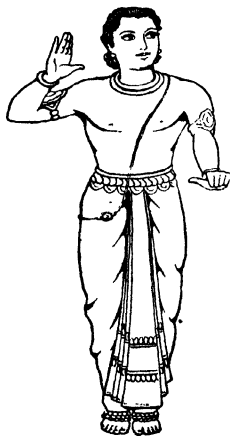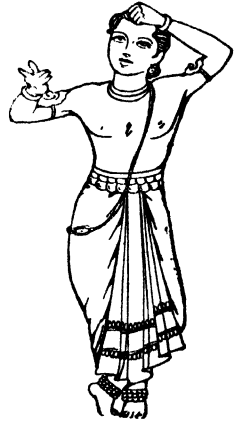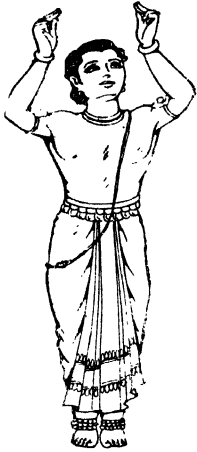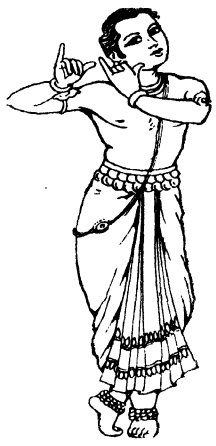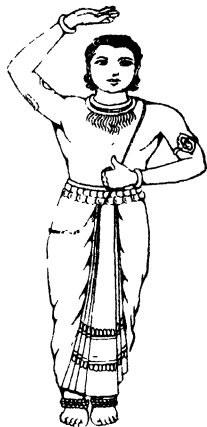
उक्त चित्रों को रेखांकित कराने में श्री रामगोपाल व सीरोज़ दादाचंजी लिखित "Indian Dancing" पुस्तक से सहायता ली गई है।

हमारे संगीत प्रकाशन

पुस्तक	मूल्य
बाल संगीत शिक्षा तीनों भाग	२)२५
संगीत किशोर ··· ····	१)५०
संगीतशास्त्र ··· ···	१)
भातखण्डे लिखित हिं० सं० प०	
'क्रमिक पुस्तक मालिका' भाग १	१)
" भाग २ से ६ तक प्रत्येक	८)
संगीत सोपान ··· ···	३)
संगीत विशारद ··· ···	५)
संगीत सीकर ··· ···	५)
संगीत अर्चना ··· ···	५)
संगीत कादम्बिनी ···	५)
भातखंडे संगीतशास्त्र भाग १	५)
" " " २	६)
" " " ३	६)
" " " ४	१५)
हमारे संगीत रत्न ···	१५)
उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास ···	२)
मारिफुन्नग़मात भाग १ ···	६)
" भाग २ ···	६)
संगीत सागर ··· ···	६)
बेला विज्ञान ··· ···	४)
सितार शिक्षा ···	२)५०
कलावन्तों की गायकी ···	३)
सूरसंगीत भाग १	१)५०
" भाग २	१)५०
ताल अङ्क ··· ···	४)
नृत्य अङ्क ··· ···	३)
ठुमरी अङ्क ···	२)५०
सन्त संगीत अङ्क	२)५०
राष्ट्रीय संगीत अङ्क	२)५०
राग अङ्क ····	२)५०
वाद्यसंगीत अङ्क ··· ···	३)
बिलावल थाट अङ्क	२)५०
कल्याण थाट अङ्क	२)५०
भैरव थाट अङ्क	२)५०
पूर्वी थाट अङ्क ···	२)५०
खमाज थाट अङ्क ···	२)५०
नृत्यशाला ··· ···	२)
म्यूज़िक मास्टर ··· ···	२)
महिला हारमोनियम गाइड	१)५०
संगीत पारिजात ··· ···	४)
स्वरमेल कलानिधि ···	१)
संगीतदर्पण ··· ···	२)
फ़िल्म संगीत ··· ···	४)
आवाज़ सुरीली कैसे करें ? ···	२)

[डाक खर्च अलग]

पता—संगीत कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०)